साहित्य देवता

माखनलाल चतुर्वेदी

भारतीय-साहित्य-प्रकाशन
खंडवा, सी० पी०

स्वर्गीय पं० माधवराव जी सप्रे

मेरे जीवन के वाणी-नियन्त्रक

स्वर्गीय

पण्डित माधवरावजी सप्रे

के

श्री चरणों में—

प० माखनलाल चतुर्वेदी

भूमिका

मेरी इस बोली का परिचय मैं कौन-सी भूमिका लिखकर दूँ ? मेरा इन पृष्ठों में किया हुआ सारा प्रयत्न ही, एक भूमिका-मात्र है। कोई भाग्य-शाली, इस भूमिका के आगे, प्रकृत वस्तु को लिखकर, मेरे इस अधूरे प्रयत्न को पूरा करेगा; इसी आशा से, मैं भारती के मन्दिर में, यह अधूरा अर्घ्य चढ़ाने का साहस कर रहा हूँ।

—माखनलाल चतुर्वेदी

अनुक्रमणिका

साहित्य-देवता

मैं तुम्हारी एक तसवीर खींचना चाहता हूँ।

"परन्तु भूल मत जाना कि मेरी तसवीर खींचते-खींचते तुम्हारी भी एक तसवीर खिंचती चली आ रही है।"

अरे, मैं तो स्वयं ही अपने भावी जीवन की एक तसवीर अपने अटेची-केस में रक्खे हुए हूँ। तुम्हारी तसवीर बना चुकने के बाद मैं उसे प्रदर्शनी में रखनेवाला हूँ। किन्तु, मेरे मास्टर, मैं यह पहले देख लेना चाहता हूँ कि मेरे भावी-जीवन को किस तरह चित्रित कर तुमने अपनी जेब में रख छोड़ा है।

"प्रदर्शनी में रक्खो तुम अपनी बनाई हुई, और मैं अपनी बनाई हुई रख दूँ,—केवल तुम्हारी तसवीर।"

ना सेनानी, मैं किसी भी आईने पर बिकने नहीं आया। मैं कैसा हूँ, यह पतित होते समय ख़ूब देख लेता हूँ। चढ़ते समय तो तुम्हीं, केवल तुम्हीं, दीख पड़ते हो।

"क्या देखना है?"

तुम्हें; और तुम कैसे हो यह क़लम के घाट उतारने के समय, यह हरगिज़ नहीं भूल जाना है कि तुम किसके हो।

"आज चित्र खींचने की बेचैनी क्यों है?"

कल तक मैं तुम्हारा मोल-तोल कूता करता था। आज अपनी इस वेदना को लिखने के आनन्द का भार मुझसे नहीं सँभलता।

"सचमुच पत्थर की क़ीमत बहुत थोड़ी होती है; वह बोझीला ही अधिक होता है।"

बिना बोझ के छोटे पत्थर भी होते हैं जिनमें से एक-एक की क़ीमत पचासों हाथियों से नहीं कूती जाती। परन्तु—

"परन्तु क्या ?"

मेरे प्रियतम, तुम वह मूल्य नहीं हो जिसकी, अभागे गाहक की अड़चनों को देखकर, अधिक से अधिक माँग की जाती है।

हाँ, तो तुम्हारा चित्र खींचना चाहता हूँ। मेरी कल्पना की जीभ को लिखने दो; क़लम की जीभ को बोल लेने दो। किन्तु, हृदय और मसिपात्र दोनों तो काले हैं। तब मेरा प्रयत्न, चातुर्य का अर्ध-विराम, अल्हड़ता का अभिराम, केवल धवलता का गर्व गिरानेवाला श्याम मात्र होगा। परन्तु यह काली बूँदें अमृत-बिंदुओं से भी अधिक मीठी, अधिक आकर्षक और मेरे लिए अधिक मूल्यवान् हैं। मैं उनसे अपने आराध्य का चित्र जो बना रहा हूँ!

*   *   *   *

कौन-सा आकार दूँ? मानव-हृदय के मुग्ध संस्कार जो हो! चित्र खींचने की सुध कहाँ से लाऊँ? तुम अनन्त जाग्रत् आत्माओं के ऊँचे और गहरे,—पर स्वप्न जो हो! मेरी काली क़लम का बल समेटे नहीं सिमटता। तुम कल्पनाओं के मन्दिर में बिजली की व्यापक चकाचौंध जो हो! मानव-सुख के फूलों और लड़ाके सिपाही के रक्त-बिंदुओं के संग्रह, तुम्हारी तसवीर खींचूँ मैं? तुम तो वाणी के सरोवर में अन्तरात्मा के निवासी की जगमगाहट हो। लहरों से परे, पर लहरों में खेलते हुए। रजत के बोझ और तपन से ख़ाली, पर पंछियों, वृक्ष-राजियों और लताओं तक को रुपहलेपन में नहलाये हुए।

वेदनाओं के विकास के संग्रहालय, तुम्हें किस नाम से पुकारूँ?

मानव-जीवन की अब तक पनपी हुई महत्ता के मन्दिर, ध्वनि की सीढ़ियों से उतरता हुआ ध्येय का माखन-चोर, क्या तुम्हारी ही गोद के कोने में 'राधे' कहकर नहीं दौड़ा आ रहा है? अहा, तब तो तुम ज़मीन को आसमान से मिलानेवाले ज़ीने हो; गोपाल के चरण-चिह्नों को साध-साध कर चढ़ने के साधन! ध्वनि की सीढ़ियाँ जिस क्षण लचक रहीं हो, और कल्पना की सुकोमल रेशम-डोर जिस समय गोविन्द के पदारविन्द के पास पहुँच कर झूलने की मनुहार कर रही हो, उस समय यदि वह झूल पड़ता होगा?—आह, तुम कितने महान् हो? इसीलिए लाँगफेलो बेचारा, तुम्हारे चरण-चिह्नों के मार्ग की कुञ्जी, तुम्हारे ही द्वार पर लटका गया है, मेरे मास्टर। चिड़ियों की चहक का संगीत, मैं और मेरी अमृत-निस्यंदिनी गाय व्रज-लता, दोनों सुनते हैं। *"सखि चलो सजन के देस, जोगन बन के धूनी डालेंगे"*—मैं और मेरा घोड़ा दोनों जहाँ थे वहीं 'शम्भु' जी ने अपनी यह तान छेड़ी थी। परन्तु वह तो तुम्हीं थे, जिसने द्विपद और चतुष्पद का विश्व को निगूढ़ तत्त्व सिखाया। अरे, पर मैं तो भूल ही गया; मैं तो तुम्हारी तसवीर खींचने वाला था न?

*   *   *   *

हाँ; तो अब मैं तुम्हारी तसवीर खींचना चाहता हूँ। पशुओं को कच्चा खानेवाली ज़बान और लज्जा ढकने के लिए लपेटी जानेवाली वृक्षों की छालें, वे इतिहास से भी परे खड़े हुए हैं; और यह देखो श्रेणी-बद्ध अनाज के अंकुर और शाहज़ादे कपास के वृक्ष बाक़ायदा अपने ऐश्वर्य्य को मस्तक पर रखकर भू-पाल बनने के लिए वायु के साथ होड़ बद रहे हैं। इन दोनों ज़मानों के बीच की जंज़ीर तुम्हीं तो हो! विचारों के उत्थान और

पतन तथा सीधे और टेढ़ेपन को मार्ग-दर्शक बना तुम्हीं न कपास के तंतुओं से झीने तार खींचकर विचार ही की तरह आचार के जगत् में कल्याणी पांचाली-वाणी की लाज बचा रहे हो?

कितने दुःशासन आये और चले गये। तुम्हारी बीन से रात को तड़पा देनेवाली सोरठ गाई थी और सवेरे विश्व-संहारकों से जूझने जाते समय उसी बीन से युद्ध के नक्कारे पर डंके की चोट लगाई थी। नगाधिराजों के मस्तक पर से उतरनेवाली निम्नगाओं की मस्ती भरी दौड़ पर और उनसे निकलनेवाली लहरों की क़ुरबानी से हरियाली होनेवाली भूमि पर, लजीली पृथ्वी से लिपटे तरल नीलाम्बर महासागरों पर, और उनकी लहरों को चीर कर ग़रीबों के रक्त से कीचड़ सान, साम्राज्यों का निर्माण करने के लिए दौड़नेवाले जहाज़ों के झंडों पर, तुम्हीं, --केवल तुम्हीं लिखे दीखते हो।

इँगलैंड का प्रधान मंत्री, इटली का डिक्टेटर, अफ़ग़ानिस्तान का पदच्युत, चीन का ऊँघ कर जागता हुआ और रूस का सिंहासन उलटने और क्रान्ति से शान्ति का पुण्याह्वान करनेवाला ग़रीब—यह तो तुम्हीं हो। यदि तुम स्वर्ग न उतारते तो मन्दिरों में किसकी आरती उतरती? वहाँ चमगीदड़ टँगे रहते; उलूक बोलते।

मस्तिष्क के मन्दिर जहाँ भी तुमसे ख़ाली हैं, यही तो हो रहा है। क़ुतुबमीनारों और पिरामिडों के गुम्बज़, तुम्हारे ही आदेश से आसमान से बातें कर रहे हैं।

आँखों की पुतलियों में यदि तुम कोई तसवीर न खींच देते तो वे बिना दाँतों के ही चींथ डालतीं; बिना जीभ के ही रक्त चूस लेतीं।

वैद्य कहते हैं धमनियों के रक्त की दौड़ का आधार हृदय है—क्या हृदय तुम्हारे सिवा किसी और का नाम है ?

व्यास का कृष्ण और वाल्मीकि का राम किसके पंखों पर चढ़कर हज़ारों वर्षो की छाती छेदते हुए आज भी लोगों के हृदयों में विराज रहे हैं ? वे चाहे काग़ज़ के बने हों, चाहे भोज-पत्रों के, वे पंख तो तुम्हारे ही थे।

रूठो नही, स्याही के शृंगार, मेरी इस स्मृति पर तो पत्थर ही पड़ गये कि—

मै तुम्हारा चित्र खींच रहा था।

*   *   *   *

परन्तु तुम सीधे कहाँ बैठते हो ? तुम्हारा चित्र ? बड़ी टेढी खीर है ! सिपहसालार, तुम देवत्व को मानवत्व की चुनौती हो। हृदय से छन कर, धमनियों में दौड़नेवाले रक्त की दौड़ हो और हो उन्माद के अतिरेक के रक्त-तर्पण भी।

आह, कौन नही जानता कि तुम कितनों ही की बंसी की धुन हो; धुन वह, जो गोकुल से उठकर विश्व पर अपनी मोहिनी का सेतु बनाये हुए है। काल की पीठ पर बना हुआ वह पुल मिटाये मिटता नही, भुलाये भूलता नहीं।

ऋषियों का राग, पैग़म्बरों का पैग़ाम, अवतारों की आन युगों को चीरती किस लालटेन के सहारे हमारे पास तक आ पहुँची ? वह तो तुम हो। और आज भी कहाँ ठहर रहे हो ? सूरज और चाँद को अपने रथ के पहिये बना, सूझ के घोड़ों पर बैठे, बढ़े ही तो चले जा रहे हो प्यारे ! उस समय हमारे

संपूर्ण युग का मूल्य तो मेल-ट्रेन में पड़नेवाले छोटे से स्टेशन का-सा भी नहीं होता।

पर इस समय तो तुम मेरे पास बैठे हो।

तुम्हारी एक मुट्ठी में भूतकाल का देवत्व छटपटा रहा है—अपने समस्त समर्थकों समेत; दूसरी मुट्ठी में विश्व का विकसित पुरुषार्थ विराजमान है।

धूल के नन्दन में परिवर्तित स्वरूप, कुञ्जविहारी, आज तो कल्पना की फुलवारियाँ भी विश्व की स्मृतियों में तुम्हारी तर्जनी के इशारों पर लहलहा रही हैं।

तुम नाथ नहीं हो; इसीलिए कि मैं अनाथ नहीं हूँ। किन्तु हे अनन्त-पुरुष, यदि तुम विश्व की कालिमा का बोझ सँभालते मेरे घर न आते तो ऊपर आकाश भी होता और नीचे ज़मीन भी; नदियाँ भी बहतीं, और सरोवर भी लहरते; परन्तु मैं और चिड़ियाँ, दोनों, और छोटे-मोटे जीव-जन्तु स्वाभाविक लता-पत्रों और अन्नकणों से अपना पेट भरते होते। मैं भर वैशाख में भी वृक्षों पर शाखा-मृग बना होता। चीते-सा गुर्राता, मोर-सा कूकता और कोयल-सा गा भी देता।

परन्तु मेरा और विश्व के हरियालेपन का उतना ही सम्बन्ध होता जितना नर्मदा के तट पर हरसिंगार की वृक्ष-राजि में लगे हुए टेलिग्राफ़ के खम्भे का नर्मदा से कोई सम्बन्ध हो।

उस दिन भगवान् 'समय' न जाने किसका, न जाने कब, कान उमेठ-कर चलते बनते? मुझे कौन जानता? विन्ध्य की जामुनों और अरावली की खिरनियों के उत्थान और पतन का इतिहास किसके पास लिखा है! इसीलिए तो मैं तुमसे कहता हूँ—

"ऐसे ही बैठे रहो, ऐसे ही मुसकाहु।"

क्यों ?

इसलिए कि अन्तरतर की तरल-तूलिकायें समेट कर, अराजक ! मै तुम्हारा चित्र खीचना चाहता हूँ ।

*　　　*　　　*　　　*

क्या तुम अराजक नही हो ? कितनी गद्दियाँ तुमने चकनाचूर नही की ? कितने सिंहासन तुमने नही तोड़ डाले ? कितने मुकुटों को गला कर घोड़ों की सुनहली खोगीरें नही बना दी गई ?

सोते हुए अखण्ड नरमुण्डों के जागरण, नाड़ी रोगी के ज्वर की माप बताने में चूक सकती है, किन्तु तुम मुग्ध होकर भी ज़माने को गणित के अकों जैसा नपा-तुला और दीपक जैसा स्पष्ट निर्माण करते चले आ रहे हो । आह, राज्य पर होनेवाले आक्रमण को बरदाश्त किया जा सकता है, किन्तु मनोराज्य की लूट तो दूर, उस पर पड़नेवाली ठोकर कितने प्रलय नही कर डालती ।

सोने के सिंहासनों पर विराजमानों की हत्याओं से ज़माने के मनस्वियों के हाथ लाल हैं और नक़्शे पर दिये जानेवाले रग की तरह उस शक्ति की सीमा निश्चित है । परन्तु मनोराज्य की मृगछाला पर बैठे हुए बिना शस्त्र और बिना सेना के बृहस्पति के अधिकार को चुनौती कौन दे सके ?

मनोराज्य पर छूटनेवाला तीर प्रलय की प्रथम चेतावनी लेकर लौटता है । मनोराज्य के मस्तक पर फहराता हुआ विजय-ध्वज जिस दिन धूलि-धूसरित होने लगे उस दिन मनुष्यत्व दूरबीन से भी ढूँढ़े कहाँ मिलेगा ? उस दिन, ज्वाला-मुखी फट पड़ा होगा, वज्र टूट पड़ा होगा ।

प्यारे, शून्य के अंक, गति के संकेत और विश्व के पतन-पथ की

तथा विस्मृति की गति की लाल-झंडी तुम्हीं तो हो। तुम्हारा रंग उतरने पर वह आत्मतर्पण ही है जो फिर तुम पर लालिमा बरसा सके। जिस मन्दिर का झंडा लिपट जाय, वह डाँवाडोल हो उठे, उसमें नर नारायण नहीं रहते। उस देश को पराये चरण अभी धोने हैं, अपने मांस से पराये चूल्हे अभी सौभाग्यशील बनाये रखने हैं; पराई उतरन अभी पहननी है। मैं, प्रियतम, तुम्हारी—

"उतरन पहनी हुई तसवीर नहीं खींचूँगा !"

*   *   *   *

उतरन—बुरी तरह स्मरण हो आया! बुरे समय, बुरे दिनों। अपना कुछ न रखनेवाला ही उतरन पहने।

जो क्षितिज के परे अपनी अँगुली पहुँचा पावे, जो प्रत्यक्ष के उस ओर रक्खी हुई वस्तु को छू सके, वह उतरन क्यों पहने ?

फ्रेंच और जर्मन जैसी भाषाओं का आपस का लेन-देन उतरन नहीं, वह तो भाई-चारे की भेंट है।

एक भिखारिन माँ मेरी भी है। उसने भी रत्न प्रसव किये हैं। पत्थरों से बोझीले; कंकड़ों से गिनती में अधिक; खाली अन्तःकरण में मृदंग से अधिक आवाज़ करनेवाले।

मातृ-मन्दिर में उतरन पर एक दूसरे से होड़ ले रहा है। उतरन-संग्रह की बहादुरी का इतिहास उसकी पीठ पर लदा हुआ है।

गत वर्ष होनेवाले विश्व-परिवर्तनों के छपे, पुराने अख़बारों पर, आज हम हवाई जहाज़ के नये आविष्कार की तरह बहस करते हैं।

वीणा, बंसी और जल-तरंग का सर्वनाश ही नहीं हो चुका; हारमोनियम और पियानो भी किस काम आएँगे ?

हमारा कोई गीत भी तो हो ? कला से नहलाया हुआ, हृदय तोड़कर निकला हुआ।

वीणा में तार नहीं; दिल में गुबार नहीं।

न जाने हम तुम्हारा जन्मोत्सव मनाते हैं या मरण-त्यौहार ? बैलगाड़ी पर बैठे-बैठे हवाई जहाज़ देखा करते हैं। बिल्ली के रास्ता काट जाने पर हमारा अपशकुन होता है; किन्तु बेतार का तार स्विट्ज़रलैंड की ख़बर आस्ट्रेलिया पहुँचाकर भी हमारी श्रुतियों को नहीं छूता ! तब हमारी सरस्वती से तो उसका सम्बन्ध ही कैसे हो सकेगा है ? एंजिन के रूप में धधकती हुई ज्वालामुखी का एक व्यापार हमारी छाती पर हो रहा है।

प्यारे, इस समय अधोगति की ज्वाल-मालाओं में से ऊँचा उठने के लिए आकर्षण चाहिए। कृषकों ने इसी लालच से तो तुम्हारा नाम कृष्ण रक्खा होगा।

ज़रा तुम युग-संदेशवाहिनी अपनी बांसुरी लेकर बैठ जाओ। रामायण में जहाँ बालकाण्ड है, वहाँ लंकाकाण्ड भी तो है। तुम्हारी तान में भैरवी भी हो, कलिंगड़ा भी हो।

ज़रा बन्सी लेकर बैठ जाओ। मै तुम्हारा चित्र मुरलीधर के रूप में चाहता हूँ।

*　　*　　*　　*

"शिव संहार करते हैं"—कौन जाने ? किन्तु मेरे सखा तुम ज़रूर महलों के संहारक हो। झोपड़ियों ही से तुम्हारा दिव्य गान उठता है।

किन्तु यह तुम्हारी पर्ण-कुटी देखो। जाले चढ़ गये हैं; वातायन बन्द हो गये हैं। सूर्य की नित्य नवीन प्राण-प्रेरक और प्राण-पूरक किरणों की यहाँ गुज़र कहाँ ? वे तो द्वार खटखटा कर लौट जाती हैं।

द्वार पर चढ़ी हुई बेलें पानी की पुकार करती हुई बिना फलवती हुए ही अस्तित्व खो रही हैं। पितृ-तर्पण करनेवाले अल्हड़ों को लेकर मैं इस कुटी का कूड़ा साफ़ करने ही में लग जाना चाहता हूँ। कितने तप हुए कि इस कुटिया में सूर्य-दर्शन नहीं होते। मेरे देवता ! तुम्हारे मन्दिर की जब यह अवस्था किये हुए हूँ, तब बिना प्रकाश, बिना हरियालेपन, बिना पुष्प और बिना विश्व की नवीनता को तुम्हारे द्वार पर खड़ा किए, तुम्हारा चित्र ही कहाँ उतार पाऊँगा ?

विस्तृत नीले आसमान का पत्रक पाकर भी, देवता ! तुम्हारी तसवीर खींचने में शायद दैवी-चितेरे इसीलिये असफल हुए; उन्होंने चन्द्र की रजतिमा की दावात में, क़लम डुबोकर चित्रण की कल्पना पर चढ़ने का प्रयत्न किया और प्रतीक्षा की उद्विग्नता में सारा आसमान धबीला कर चलते बने। इस बार मैं पुष्प लेकर नहीं, कलियाँ तोड़कर आने की तैयारी करूँगा; और ऐ विश्व के प्रथम-प्रभात के मन्दिर, उषा के तपोमय प्रकाश की चादर तुम्हें ओढ़ाकर, तुम्हारे उस अन्तरतर का चित्र खीचने आऊँगा, जहाँ तुम अशेष संकटों पर अपने हृदय के टुकड़े बलि करते हुए, शेष के साथ खिलवाड़ कर रहे होगे।

आज तो उदास, पराजित और भविष्य की वेदनाओं की गठरी सिर पर लादे, मेरे बाग़ में उन कलियों के आने की उम्मीद में ठहरता हूँ, जिनके कोमल अन्तस्तल को छेदकर, उस समय जब तुम नगाधिराज का मुकुट पहने दोनों स्कंधों से आनेवाले संदेशों पर मस्तक डुला रहे होगे, गंगी और

जमुनी का हार पहने बंग के पास तरल चुनौती पहुँचा रहे होंगे, नर्मदा और ताप्ती की करधनी पहने विन्ध्य को विश्व नापने का पैमाना बना रहे होंगे, कृष्णा और कावेरी की कोरवाला नीलाम्बर पहने विजयनगर का सन्देश पुण्य-प्रदेश से गुजार कर सह्याद्री और अरावली को सेनानी बना मेवाड़ में ज्वाला जगाते हुए देहली से पेशावर और भूटान चीरकर अपनी चिर-कल्याणमयी वाणी से विश्व को न्यौता पहुँचा रहे होंगे; और हवा और पानी की बेड़ियाँ तोड़ने का निश्चय कर, हिन्द-महासागर से अपने चरण धुलवा रहे होंगे;—

—ठीक उसी सन्निकट भविष्य में, हाँ मूजी से कलियों का अन्तःकरण छेद, मेरे प्रियतम, मै तुम्हारा चित्र खीचने आऊँगा।

तब तक चित्र खीचने योग्य अरुणिमा भी तो तैयार रखनी होगी।

बिना मस्तकों को गिने और रक्त को मापे ही मै तुम्हारा चित्र खींचने आगया।

देवता, वह दिन आने दो; स्वर सध जाने दो।

मुक्ति भरत जहँ पानी

एक मेरे घर ही में रहता है, पर जीवन भर हम एक दूसरे से नहीं मिले। एक नर्मदा-तट छोड़कर, गङ्गा-तट पर रहता है, पूरे चार सौ मील की दूरी पर; पर हम रोज लड़ भी लेते हैं, शिकायत भी कर लेते हैं, प्रसन्न भी हो लेते हैं, और रूठ भी लेते हैं। एक दूसरे के बिलकुल पास रहते हैं।

हृदय के संयोग पर विजय पाकर, सन्तों ने जीवन के वियोग का दिवाला काढ़ दिया। भींगी पलकों के 'कुछ और ही' स्वाद को हृदय से अँगुलियों पर उतारने का पागलपन कैसे सधे? खारी बूँदों का सलोनापन, काली बूँदों में आवे? कैसे, किस रास्ते होकर?

मिलन-सुख की माँग?—वह करे, जो वियोग के मूलधन को स्वीकृत करे। मुक्ति माँगना भक्तों का बाना नहीं; वे तो बाहर के वियोग को हठकर न्योतने जाते हैं, इसके बिना अन्तर की एक-रसता का उनमें ज्वर ही नहीं चढ़ता, ज्वार ही नहीं बढ़ता। अंतर में, 'राजाजी' से एक हो जाना, मीरा के गिरधर का प्यार है, तुलसी के रघुनाथ की घुँघराली लटों की लटकन है, तुकोबाराय (तुकाराम) के विठोबा के पदों की आहट है, सूर की अपने गोपाल को बेबसी के वैभव से भरी फटकार है।

भक्ति?—वह तो है मुक्ति के माथे की लाली, मुक्ति के सुहाग का सिन्दूर-बिन्दु! लोकमान्य ने गीता-रहस्य में संन्यासियों पर एक तीर छोड़ा है—"संन्यासी होने पर भी मनुष्य को मोक्ष का लालच तो रहता ही है।" बिनोवा ठीक कहते हैं कि यह तीर, भक्तों के सन्मुख नहीं ठहरेगा। तुका और तुलसी, सूर और मीरा ने लालच को ही संन्यास देकर—घर छोड़ा

था, तब फिर उनके पास कौनसा लालच रह जाता, लालच छोड़ने के लालच के सिवा ? भक्ति की 'भाजी बिन लौन' के सामने. 'मुक्ति की महमानी' का मूल्य ही कितना ?

"वृन्दावन के राजा है दोउ श्याम राधिका रानी,
चारि पदारथ करत मजूरी मुक्ति भरत जहँ पानी ।"

किन्तु 'छायावादी' के नाम से बदनाम के मुँह से निकलनेवाली वाणी पर कितने नाराज़ ? वेदान्त की रेतीली आवाज़ में 'सोऽहमस्मि' सुनकर हम समझ भी लेते हैं, सिर भी डुला देते हैं। किन्तु यही बात यदि कोई आँसुओं से भिँगोकर भक्ति की सरसूवती में कह दे ?— वह अपराधी !

जो आस-पास बहनेवाले मन्द समीरण से काना-फूँसी करता है, जो तितलियों से खेलता, चिड़ियों से मिलकर चहकता, गङ्गा और यमुना के स्वर से स्वर मिलाकर अपनी मीठी स्मृतियों को दुहराता, जो उद्दण्ड होने पर हवा पर ताने कसता, कलियों की चटक का चुटकियाँ बजाकर समर्थन करता है, उसे रोकनेवाला कौन ?

काम का बोलना ही उससे बड़ी कठिनाई से होता है, फिर वह बोलने का काम अपने पास कैसे पाल सके ?

खीझ और रीझ दोनों ही को उसके पागलपन पर डाका डालने का अधिकार नहीं; जब तक वे किसी हृदय से, आँसुओं के अक्षरों में लिखी न आई हों। उसके एक ही स्वर होता है :—

"नन्द के कुमार कुरबान तेरी सूरत पै,
तेरे लिए प्यारे हिन्दुआनी हो रहूँगी मै।"

भक्तों की यही आन, हृदय की यही बे-बसी, प्राणों का यही

खिलवाड़, मानवता का सनातनधर्म है। चाहे कोई सूली के खंभे से लटककर 'अनलहक़' कह दे; चाहे कोई विष का प्याला पीकर,—

'माई मैंने गोविन्द लीन्यो मोल'

कह दे; चाहे कोई युगों की वाणी में,

"स्याम रूप सुचि रुचिर कसौटी
चित कंचनहि कसैहो" कह दे—

जनता

यह अँगड़ाई, यह आलसी, यह शिथिलता तेरी?

"एक-रसता मेरा स्वभाव है। शान्ति मेरा जीवन है।"

पर तुम्हें भयंकर होते कितनी देर लगती है?

"मैं तो समुद्र की लहरों के समान फैली हुई हूँ; एक दूसरी से टूटी हुई, जल-बिन्दुओं में बँटी हुई। सतह के बन्दीख़ाने में रहनेवाली मेरी अल्पता से बड़प्पन की आशा क्यों करते हो?"

विश्व का बड़प्पन, उसकी भयंकरता, उसकी कठोरता, उसका सारा विनाशत्व वृक्षों, घाटियों, पत्थरों और पर्वत मालाओं तथा हिंस्र जन्तुओं के रूप में शतरंज के खेल की तरह उघाड़ा—बिना ढँका—पड़ा हुआ है।

देवि, तुम भी ऊँची हो, नीची हो, गहरी हो, विस्तृत हो, गतिशीला हो। केवल तुम्हारे ऊँचे टीले और तुम्हारी गोद में रहनेवाले भयंकर जीव तुम्हारी ठण्ढी तरलाई की चादर ओढ़े विश्व की ओट से परे पड़े हुए हैं।

तुम्हारी ठंढक में कोई आग नहीं लगाना चाहता, किन्तु क्या यह कोई बड़ी माँग है कि जब तुम्हारा तरलतम-अंतःकरण ठुकराने के लिए भी और तुम्हारे अन्तरतम में निवास करनेवाली रत्नों की राशि लूट ले जाने के लिए भी तुम पर चढ़ाई हो, तब जहाँ तुम समस्त भूमण्डल को निगलने की सामर्थ्य रखती हो तहाँ तुम्हारी छाती को छेदने और तुम्हारी तरंगों की मर्ज़ी पर जीनेवाला शत्रु का जहाज़ी बेड़ा तुमसे निगला न जा सके।

देवि, यह तो जल-बिन्दुओं के ज्वार बनने का समय है। लहरों के, टूटकर, जल-बिन्दु हो जाने का नहीं।

"दीवाने, मेरी ठंढक पर विश्व गर्व करता है। कलकल-नाद की कवि कहानी लिखते हैं। मुझसे प्राण-संचार की आशा की जाती है। इसीलिए मेरी बूँदों ने 'जीवन' नाम पाया है। मैं तो तेरा संगीत हूँ—मोहक हूँ, मधुर हूँ, आकर्षक हूँ। इस ठंढक, इस मस्ती, इन लहरों में तो मैं मेरी गोद में खेलनेवाले का ब्रह्मज्ञान भी भुला डालने का दावा रखती हूँ। मेरी इस मोहकता से तुम कौनसा संहार किया चाहते हो?"

देवि! मैं तुम्हारी यह बात हरगिज़ नहीं भूलता कि तुम हिन्द-महासागर जैसी हो। हाँ, तुम्हारी तरलाई का नाम जीवन भी है और वन भी है। जीवन हो—अपनी गोद में खेलनेवालों के लिए। और वन हो—अन्तरतम लूटने के लिए आनेवाले लुटेरों के बल की परीक्षा लेने के लिए।

छोटे से सरोवर के अन्तरतम को ठुकराने पर, वह भी अत्याचारी के लिए, अपना चिर-संचित कीच सतह पर फेंक देता है। उसके अंधकार में सरोवर की गोद में निवास करनेवाले छोटे-छोटे जल-जन्तुओं को घातक देख नहीं पाता।

ऐ महानदों और सरोवरों की स्वामिनी, क्या तुम्हारी गोद ही चोरी और बटमारी के लिये खुली छोड़ दी गई है?

माना, तुम्हारी लहरों के तार मिलने पर तुम मधुर हो, मोहक हो, आकर्षक हो। जिस दिन तुम्हारे घर की तुम खुद स्वामिनी हो, उसी दिन यह काव्य-शास्त्र का विनोद शोभता है। मैं तो तुम से निवेदन करता हूँ कि घातकों के जहाज़ी बेड़े तुम्हारे तरल-अन्तःकरण को चीरने आ पहुँचे हैं। उनके प्रहारों का जवाब लहरों की संगीतमयी मृत्यु से नहीं—उनके ज्वार-पूर्ण चीत्कार से दो।

तुम्हारा एक बार उठ पड़ना बड़े से बड़े बेड़ों को निगल सकता है। यह तो लहरियों के गुनगुनाने और तुम्हारे चुटकियाँ बजाने का समय नहीं है। इन जहाज़ी थपेड़ों पर तुम अपनी अनन्त गहराई के गर्भ में छुपे हुए जल-जन्तुओं को जागरण का सन्देश पहुँचाओ। लहरों को पर्वत-शिखरों की समता करने के लिए उत्तेजित होने दो। देवि, इस समय शान्त सतह का गर्व न करो; तुम्हारी तली भयंकर है, इसका अभिमान करो। जिसमें टीले हैं, खाइयाँ हैं और भयंकर हिंस्र प्राणी भी हैं। उस इतिहास को यही आकर झूठा न होने दो जिसमें चौथा जार्ज, फ्रान्स का तख़्तनशीन, मंच-मंडित—मंचू-मुकुट-धारी और संहार का अवतार ज़ार—जो भी तुम पर लूट-खसोट करने आये, जिन्होंने भी तुम्हारे अन्तस्तल को झकझोरा वे अपने सिंहासन पर ज़िन्दा लौटकर नहीं गये। ऐसे कितने संहारक पर्वतों को तुमने कल्पना की वस्तु नहीं बना डाला? जिनकी शिलाएँ चित्रित भले हों, पर उनमें न नोक है, न बोझ है और न बल है!

"तब क्या तू चाहता है कि मेरी गोद में कोई खेले ही नहीं?"

महामाया, मैं यह नहीं चाहता। खेलें वह, जो तुम्हारे अपने हों। खेलें वह, जो तुम्हारे अपने बन कर रहें। खेलें वह, तुम्हारी गोद के धन, जिनकी माताओं की गोद में समान आदर और स्नेह के साथ खेल सकें। तरलाई की देवता, जो खेलें, तुम्हारी लहरों की मर्ज़ी पर खेलें; तुम्हारी तरंगों की इच्छा पर। खेलें उसी समय तक, जब तक तुम्हारा अन्तःकरण न ठुकराया जाय, तुम्हारे अन्तर-तर की रत्न-राशि न लूटी जाय।

लुटेरे को जानने दो कि तुम्हारा हास्य यदि वरदान दे सकता है तो तुम्हारी आत्म-रक्षा-पूर्ण उथल-पुथल प्रलय कर सकती है। और तुम समुद्र

जैसी ही तो हो। समुद्र में तो कितने ही गुमराह हो जाते हैं; किन्तु दयामयी, तुम तो सदियों से घातकों के लिए अपने अन्तर का दिव्य द्वार खोले बैठी हो !

"तब क्या मैं वह सब कुछ निगल जाऊँ जो मेरी सतह पर है ?"

सृष्टि-मेखला, मैं यह कब कहता हूँ ? जो तुम्हारी लहरों को नहीं तोड़ते-मरोड़ते, जो तुम्हारी सतह को नहीं झकझोरते, जो विश्व के गुमराहों को राह पर चलाते हैं और स्वार्थ के लिए अपने प्रकाशित मस्तकों को नीचा कर जो तुम्हारी रत्न-राशि को लूटने के लिए नीचे नहीं होते, विश्व के उन प्रकाश-स्तम्भों को ठुकराने की बात मैं तुमसे कब कहता हूँ ? वे तुम्हारी गोद की शोभा हैं। वे तुमसे निगले भी नहीं जा सकते।

"कौनसा यह व्यापार ? पुष्प के शस्त्रों के वध करने का यह तुम्हारा कैसा हठ है ?"

"विश्व की बाँसुरियों के सुर में मै अपने सुर मिलाये रहती हूँ। श्रमितों को पता है कि मेरी लहरियों ने दान में उन्हें लिपटना, चिपटना, आलिंगन और चुम्बन प्रदान किया है और आज तुम रण-निमंत्रण लेकर आये हो।"

"जिस समय मैं अपने बाण कान तक खींच बैठूँगी, जिस समय मेरी तरल लहरें थपेड़ें बनकर सतह की सीमा को औंधा-सीधा करने लगेंगी, उस समय जानते हो, वह घुड़की, वह झिड़की और वे प्रहार काबू से बाहर हो जावेंगे; स्वयं मेरे भी काबू से बाहर !"

"उस समय जिस तरह करारा तलवार का वार जिरह बख़्तर पर खट्ट कर उठता है, उसी तरह मेरी लहरों के प्रहारों से चट्टानें चिंघाड़ उठेंगी।

उस समय शान्ति का गर्व करनेवाला अन्धकार काँप उठेगा और अपने निरीश्वर-पूर्ण हृदय में ईश्वर के अनुराग का आरोप कर अभ्यर्थना करेगा—न हो, न हो यह अधिक समय तक।"

रात्रि रूपे की बूटेदार साड़ी पहने, क्रान्तिकारिणि देवि, तुम्हारा स्वागत कर रही है। वह तुम्हारी उथल-पुथल में वैधव्य को भी सौभाग्य समझने के लिए प्रस्तुत है यदि पुनः प्रभात की आज़ाद किरण आकर तुम्हारे बन्दीख़ाने के द्वारों को खोले।

"तो लो, कोमलता से बनी मेरी सहस्र-सहस्र कर-मालायें अपने क्रूरतम रूप में समर्पित हैं। कलकण्ठी की होड़ लेनेवाला कलरव अघटन-घटनासूचक कोलाहल के रूप में है। अब श्रद्धा भी गुमराह न कर पायेगी; धीरज भी डाका न डाल पायेगा। अब अपने चन्द्र जैसे प्रकाशित पुत्र की बलि के मूल्य पर भी उषा का स्वागत होने ही पर मैं अपने शस्त्र रखूँगी।"

अँगुलियों की गिनती की पीढ़ी

साहित्य का उचित स्थान वह हृदय है, जिसमें पीढ़ियाँ और युग अपने विश्वास को धरोहर की तरह छिपा कर रख सकें। ऐसे हृदय ही में कला का उदय होता है। हम तो 'कुछ न' करने के आदी होते हैं, और 'न कुछ' को सम्पूर्ण मानकर उस पर गर्व करने लगते हैं; तब यही माप हमारी कला का भी क्यों न होगा? पुष्प की सुन्दरता और सुगन्ध से मतवाला हृदय उसके लता या वृक्ष की पूँछ-ताँछ करता है; और कला से प्रभावित और आसक्त व्यक्ति उस जाति की पूँछ-ताँछ किया करता है जिसमें कलाकार ने जन्म लिया है। काग़ज़ों, दीवारों और पत्थरों पर तो सपने उतर आये हैं; उनकी आकृतियों और आकर्षणों ने वहाँ जन्म नहीं लिया। उनके जन्म-स्थल को यशोदा की गोद तो है,---हमारी कसमसाहट का बोझ सँभालनेवाली वह दृढ़ता, जिसकी सुलग से अनन्त जीवनों की एकत्र चिनगारियाँ एकांत में उतर पड़ती हैं; और लोहे से या बालों से बनी क़लम को हिला देने पर किसी जाति का उल्लास, विलास, वेदना और बलिदान बनकर वह काग़ज़ पत्थर या दीवारों पर उतर आती है। उस समय कलाकार 'सोऽहमस्मि' कह उठता है। वेदान्त की रेतीली वाणी में नहीं। उसकी अपनी वाणी होती है—

"प्रेम गली अति साँकरी, या में दुइ न समाँय।
'मैं' देखूँ तो 'वह' नहीं, 'वह' देखत 'मैं' नाँय॥"

किन्तु जो वेदान्त के सोऽहमस्मि के आडम्बर को सह जाते हैं, वे प्रिय के इस स्वरूप-दर्शन में सौ-सौ दोष निकालते हैं।

पुस्तकों में और उनके नियमों में जिस तरह प्रभु नहीं रहते, किन्तु युग की सीमा-रेखा बननेवाले व्यक्तियों को देखकर—उनके चरणों के चिह्नों को ढूँढ़-ढूँढ़कर, ग्रन्थों के नियमों का नियमन होता आया है; उसी तरह पत्थर, मिट्टी और काग़ज़ पर किये गये कौशल, कलाकारों का निर्माण नहीं किया करते; अपने अन्तर के 'मनमोहन' की बिखरन ही, उन पदार्थों पर कलाकार डाल जाते हैं।

चिड़ियों की चहक, पुष्पों की महँक, कलियों की मुसकराहट, सतपुड़ा के शिखरों की बेजोड़ हरियाली होड़, और उस पर बेतवा नदी का कभी कंकण, कभी किंकिणि और कभी नूपुर बन जाना और नर्मदा या ताप्ती का कभी कण्ठहार, कभी करधनी और कभी विष्णु-पदी बन जाना, और गंगा, जमुना, इरावती और सिन्धु का हिम-किरीट से निम्नगा सिद्ध होना ही वे स्थल हैं, जो कलाकार की संचित कोमलता को गुदगुदाकर, इन्द्र-धनुष के रंग उस पर चढ़ाते हैं; और अन्तर का पानी आँखों से उतरकर, सपनों को सजीव करने का द्रव्य प्रस्तुत कर देता है।

कलाकार हज़ारों वर्ष पुरानी ऐतिहासिक दूरी को अपने अन्तर की प्रत्यंचा से इसलिए नहीं छूते कि वे व्यास और वाल्मीकि का, होमर और अरस्तू का युग पुनः निर्माण कर देनेवाले विधाता बनना चाहते हैं।

"उतरे हुए ज़माने को, जीवन में उतारने के कारण, हम उतरे हुए आमों की तरह, उतरा हुआ जीवन बना लेते हैं; और जब हमारी कला उतरी हुई पीढ़ियों का निर्माण कर देती है, जिसमें परिस्थिति की पर्वत-मालाओं पर चढ़ने का बल नहीं होता, तब हम सतह से बहुत नीचे की कला में स्वयं बैठ कर भी अपने को सातवें आकाश पर अनुभव करते हैं और अपने द्वारा निर्मित होनेवाली पीढ़ी को नगण्य कहकर कोसने लगते हैं।

किन्तु नवीन पीढी तो युग के कलाकार के ही आकलन का अपराध है।

कलाकार तो भूतकाल को, सुनहले भूतकाल को भी, अपनी अन्तर की आँखों की छोरों से इसलिये छूता है कि वह शक्ति भर भूतकाल की गहराई माप कर अपनी आकांक्षा का एक माप बना ले और उसको उठाकर जब वह भविष्य की ओर रख दे और उससे कुछ आगे अपनी कला-बिन्दुओं की सीमा खींच दे तो विश्व में, युग से होड़ लेती हुई उसे अपनी एक अमर पीढ़ी दिखाई दे।

यदि इरादों पर पहुँचने में रेल के टिकट काम आ जाया करते, तो कला के स्वर्ग को हम पत्थरों और काग़ज़ों से छू सकते थे।

स्वप्नों को पकड़ने का पथ तो अन्तरतर के स्वप्न-देश ही में से है।

हवाई जहाज़ पर चढ़कर जिस तरह हम हिमालय विन्ध्या और सत-पुड़ा की ऊँचाई-निचाई से परे हो जाते हैं और उच्चता की एक-रसता में, एक-रसता की उच्चता की दुनियाँ में पहुँचकर, उसे पार करते होते हैं; उसी तरह जब हम अपने स्वप्नों के जागरण में होते हैं तब हम अपनी पीढ़ियों के ऐसे ही वायुयान बन जाया करते हैं।

कला की पीढ़ी अँगुलियों की गिनती पर होती है। गङ्गा से कृष्णा की दूरी ही की तरह एक ग़रीब की दूसरे ग़रीब से दूरी होती है, किन्तु उनके इरादों के 'अपनी पर आने' का सेतु बँध जाने पर, ज़माना का ज़माना, इस पार से उस पार, और उस पार से इस पार होता रहता है।

उस कला का वाहन, कलाकार का विज्ञापन चिपकाये रहनेवाला शरीर नहीं है; न उसका वाहन विलास है, न उल्लास; न सिसक है न मुसुक।

उसका वाहन तो वह प्रेरणा है, जिस पर वह अपने सम्पूर्ण इरादों और स्वप्नों को लेकर बैठ जाती है, और तिस पर भी वह समय की दौड़ से आगे बढ जाया करती है। समय के साथ रहने पर तो सूरज और चाँद, अपने प्रकाश से उसे हराकर, बड़े बन जाने के अधिकारी हो जाते हैं।

इसलिए कलाकार, राहगीर का समय काटने की वस्तु-मात्र नही होता, वह समय का पथ-प्रदर्शक, राहगीर होता है।

कलाकार कैसे जाने कि उसका आराध्य उसका अपना है? विश्व-निर्माता ने उसे अपनाया है? निर्माता की तान में अपनी तान मिल जाने की पहिचान तो यही है न, कि भक्त-भावन की तरह भक्त भी निर्माता हो। तभी तो मानव दम्भ की कुटिलता और ग्रन्थों की जटिलता के परे, 'सोऽहमस्मि' के कुछ मानी रह जावेंगे।

निर्माण जिसका बचपन हो, निर्माण जिसका अध्ययन; निर्माण जिसका चिन्तन हो, निर्माण जिसकी कमाई; और निर्माण ही जिसका औदासीन्य और आनन्द हो, विषाद और विनोद हो; तब निर्माण ही उसकी चिरसमाधि क्यों न हो? उसे निर्माण की समाधि न कहेंगे; वह तो पंचत्व को प्राप्त होकर भी, समाधि के द्वारा, पीढ़ियों में, प्रेरणा के रूप में जीवित रहनेवाला निर्माण ही कहा जावेगा। निर्माता की जिम्मेवारी पूरी करनेवाला, निर्माता की वह अपनी चीज़ होगा!

रोज़ उत्थान के अभाव और पतन की पराकाष्ठा से भरा जानेवाला हमारा पेट, जीवन के प्रकटीकरण की भूख अनुभव ही नही करता। किन्तु जो इस भूख को अनुभव करते हैं, उनका एकान्त, अस्तित्व की बस्ती है और उनकी निकम्मी घड़ियाँ कला के अस्तित्व का श्वासोच्छ्वास है।

.फ़ुरसत की घड़ियाँ कुछ लोगों की सनक की घड़ियाँ हैं, कुछ लोगों की लाचारी की घड़ियाँ; कुछ लोगों की काहिली की घड़ियाँ हैं और कुछ लोगों की नाश की भी घड़ियाँ हैं। .फ़ुरसत की घड़ियाँ, और वैसी ही .फ़ुरसत की घड़ियाँ, कला के अस्तित्व की घड़ियाँ हैं, कला के विकास की घड़ियाँ हैं, कला के खिलवाड़ की घड़ियाँ हैं। वहाँ कला पुरुषार्थवती होती है, और पुरुषार्थ कला के चित्रों का रंग बन जाता है।

दौड़-धूप के देवताओ, कहीं इन 'निकम्मों' को भी जीने दो। रेलगाड़ी के पथिको, संकल्पों के आने-जाने के लिए भी थोड़ी ज़मीन छोड़ो।

'बे-.फ़ुरसत' की ज़िन्दगी में, कलाकार, विश्व को देखने, देखते रहने, और देखते-देखते पुनः देखते रहने के लिए आँखों और आडम्बरों से बाँध-कर रक्खा जाता है। उस समय अपने को और अपनेपन को देखने का, अपने को नहलाने और सुहलाने का वह अवसर ही नहीं पाता। .फ़ुरसत की घड़ियाँ, कलाकार के अस्तित्व की आराधना है, आराध्य की पूजा है, आत्मदेव की अभ्यर्थना है। वे उसके आत्म-संकीर्तन की नहीं, विश्व-संकीर्तन के लिए आत्म-दर्शन की घड़ियाँ हैं। उस समय उसकी खुली आँखें मुँदे जगत् की गुत्थियाँ सुलझाया करती हैं; और मुँदी आँखें, खुले जगत् में विश्व के परम सत्य का रंग भरती रहती हैं।

उस समय वे आँखें जिस लोक को देखती हैं, उस लोक में उस कलाकार और उसकी कला को भी देखती हैं। उसकी सेवा और उसकी तैयारी को भी देखतीं हैं। उसकी कमजोरियों और उसके पतन को भी देखती हैं। वह अपने उत्थान से, उत्थान के शेष रहे हुए पथ की दूरी देखकर, अपनी नम्रता और अपने धीरज को समेटता रहता है; और अपने पतन को

देखकर उत्थान की क़रारी छलाँग मारने के लिए, बलों की आत्मा से, बल की प्रार्थना किया करता है।

एकान्त जीवन का अवकाश कलाकार का वह मन्दिर है, जहाँ वह अपने को 'अकर्मण्य-कर्मण्यता' के नास्तिक बन्दी-गृह से बाहर निकालता है, और आकांक्षाओं की मूरत बनाता है, चिन्तन पर रंग चढ़ाता है और इस तरह अपने मूक वैभव को क़लम पर उतारकर विश्व में भेजता है, कि जिसे देखकर दुनियाँ की शत-शत सूझें वाचाल हो उठें।

भला, ऐसे समय यह कैसे माना जावे कि कला का अनुवाद भी होता है, उसकी नक़ल भी उतारी जा सकती है। इच्छाओं के आदर्श का अनुवाद? आदर्श की इच्छाओं की नकल?

कलाकार का जीवन द्वैत में अद्वैत और अद्वैत में द्वैत की अनुभूति होता है।

जब कलाकार अपने अनन्त-चिन्तन में उतरा होता है, तब वह कला-पिता के जोखिम भरे उल्लास से आभूषित और कला-माता के प्राण-मय बोझ से बोझीला होता है। किन्तु जब उसका चिन्तन उसकी क़लम पर उतर आता है, तब वह अपना ही कला-पुत्र होकर, विश्व के अन्तरतर की सुकोमल गोदों में खेलता रहता है।

चाह की तीव्रता और चिन्तन का माधुर्य, ये दोनों ही तो वैज्ञानिक संघर्षण की वस्तुएँ हैं, जिनसे चटख पड़नेवाले प्रकाश को अपने भिन्न-भिन्न रंगों के रक्त से गीला कर, अस्तित्व की अँगुलियों के द्वारा, विविधता के पत्रक पर, कलाकार, विश्वनियंता की, अपने मनमोहन की, कोई तसवीर खींचा करता है। जिसका आराध्य हर चीज़ में हो, और पहुँच की तीव्रता

के माप से वह अपना हो, तो कलाकार की आँखों और अन्तर के प्रवेश के लिये, प्रकृति का सारा वैभव और खतरों का समस्त भंडार, कलाकार के प्रवेश के लिये अपने अन्तर का द्वार क्यों न खोल दे ?

कलाकार की अँगुलियों की असफल खिलवाड़ों तक में एक मनुहार, एक अपील, एक वेदना, एक झाँकी और एक बेबसी होती है। वहाँ, उस प्रकटीकरण के समय, उसकी अँगुलियाँ उसे अपने आराध्य से कही अधिक मीठी मालूम होने लगती है।

किस गोद के लिये कला दौड़ी आती है ? उन आँखों के लिये जो कल्पकता की ममता और ममता की कल्पकता का अनुभूति के माप से अन्दाज़ा लगा सकें। उस जानकारी की गोद पर, जो कला की आकृति और प्रेरणा को, मुँदी आँखों से देखकर शिल्पी के खुले हृदय का आकलन कर सके और खुली आँखों से देखकर, स्मृति को विस्मृति के हवाले कर, कलाकार की वस्तु में समा सके।

कलाकार क्या है ? वह अपने युग की, स्फूर्ति के प्रकाश के रंग मे डूबी भगवान् की प्राणवान् प्रेरक और कल्पक कूँची है।

उसके स्वरों में रंग होते हैं, उसके रंगों में स्वर होते हैं। उसके चित्रण की आत्मा सजीव होती है। मंचों पर दिखाये जानेवाले नाटकों की तरह उसे समझने के लिये, खास पढ़े लिखों की पल्टन ही की ज़रूरत नहीं होती। जिन्हें स्वप्न समझने की बुद्धि है; उनके पास कला का मूल्य है। जो मुसकुराहट और बेचैनी को समझ सकते हैं, वे कलाकार को समझ सकते हैं। जो जीवन और मृत्यु को समझा करते हैं, वे उस समय कलाकार की भाषा को पढ़ा करते हैं।

जिन्हें देखकर कलाकार अपने आँसुओं और उल्लासों को चित्रित किया करता है, वे चाहे कल्पकता के सत्य हों, पर कलाकार के लिये वे सत्य की कल्पकता हैं। उन घड़ियों का संचय ही, कलाकार का सम्पूर्ण जीवन है।

छलकन गगरी

तुम सु-वर्ण पर ललचे न थे। बाज़ार दर की ऊँचाई ही इसका कारण न था, तुम्हें तो ठंढे पानी की चाह थी। मिट्टी की गगरी इसीलिये तो लाये। सावधान रहो, नहीं तो इसमें दरार पड़ जायगी। इसकी दरारें जुड़ा नहीं करतीं।

*　　　*　　　*　　　*

पर यह क्या आफ़त है। इसकी छलक से तुम्हारा अम्बर भीज गया है। वायु थरथराहट देकर अपने अभिमत से विस्मृत किये दे रही है। और छलकन की आवाज़ से, धीमे-धीमे बोलनेवाले, आराध्य की ध्वनि, तुम्हारे कानों तक नहीं पहुँच पाती। क्या गगरी का मुँह बन्द कर दिया जाय? पर, स्वर-में-स्वर मिलने की विस्मृति में, जब तुम्हारा मस्तक झुक पड़ेगा, तब पथरीला ढक्कन प्रियतम के चरणों पर फिसल पड़ने का भय नहीं है?—तब फिर? हाय, गगरी बड़ी दुष्टा है;—इसे कहाँ से ख़रीद लाया? दो दमड़ी की चीज़! उथली, कलूटी, दर-दर पर लुढ़कनेवाली, छूते ही अछूत और ठुकराते ही टूक-टूक!!

*　　　*　　　*　　　*

क्या सचमुच?

और यह जीभ, जो गगरी को कोस रही है, किन मुहरों के मोल ख़रीदी थी? क्या इसके छूते ही अछूत का प्रण, तुम्हारे सतीत्व के आडम्बर

से कम उज्ज्वलतर है ? और क्या साँवलापन ही इसका सबसे बड़ा अपराध है ? क्या इसी अपराध की अपराधिन पुतलियों में सूजियाँ छेद दोगे ? क्या यह इतनी ओछी है ? क्या इसमें अमानेवाली जल की अँजुलियों की अपेक्षा, तुम्हारे हृदय की मटकी में आँसुओं की अधिक अँजुलियाँ अमाती हैं,—क्या तुम्हारी आँखों के परदे के नीचे, इसकी अपेक्षा अधिक बूँदें हैं,—मिठासवाली ?

*　　*　　*　　*

और तुम चिढ़ किसलिये पड़े ?

छलकने से।

किसपर ?

गगरी पर।

क्या छलकने के अपराध का उत्तरदायित्व उस पर है ?

*　　*　　*　　*

क्या जिस कुएँ से इसे भर कर लाये, गहरा था ?

क्या तुम्हारे गुन कमजोर न थे ? उनमें बल था कि वे जल का बोझ सम्हाल कर, कुएँ का तरल अन्तःकरण खींच लाते ?

क्या खींचते समय तुम हाँफ नहीं गये ?

तब गगरी अपने आप कैसे भरी आती ?

और जब तुम्हारे गुन, भरी गगरी खींच न सके, तब गगरी अधजल न रहती तो क्या करती ?

क्या तुम्हारी यह चाह है कि वह अधजल भले ही रहे, पर छलके नहीं ?

*　　　*　　　*　　　*

और डेढ़ दमड़ी की इस गरीबिन का क्या कोई स्थान नहीं ? ग्रीष्म में जब तुम्हारे मस्तक पर चन्दन चर्चित होता है, जब तुम्हारे खश के पर्दों पर गुलाब की सींच होती है, जब तुम्हारे चन्दन में कपूर लहर लेता है, जब तुम्हारी सारी देह बर्फ पड़े हुए हौज में किलोल करती होती है और बिजली का पंखा घूम-घूम सारी बर्फीली वायु बटोर कर, तुम्हारे सिर दे मारता है और थरथराहट पैदा कर देता है, उस समय तुम्हारे अन्तःकरण में आग कौन लगा देता है ? क्यों तुम, गिरफ़्तार शीत की गोद से भी 'पानी पानी' की पुकार मचा बैठते हो ? आह ! क्या तुम उस डेढ़ दमड़ी की उपेक्षा कर, मुहर की मनुहार करोगे ? क्या उस आग को,—तुम्हारी पियास को—गुलाब का सुगन्धित रस बुझा सकेगा ? कर्पूर की बरसात कम कर सकेगी ?

*　　　*　　　*　　　*

अरे,—और, तुम्हारे भीजने, थरथराने, और प्रियतम की बातों की मिठास में, छलकन की ध्वनि के विघ्न डालने ही तक तो बात नहीं है। आधी रात में जब समर्पण के जागरण में, पानी-पर-पानी की माँग होगी, तब अधजल गगरी का तो तुम दोनों दिवाला काढ़ बैठोगे ? क्या आराध्य को पानी के लिए तड़पाने का अपराध इस अधजल गगरी ही का होगा ? क्या नहीं मानते कि गगरी छलक-छलक कर तुम्हें भिजो रही, तुम्हें थरथरा रही

और तुम्हारे प्रणय-संवाद में विघ्न डालकर चीख रही है कि मज़बूत गुन से, गहरे कुएँ में फिर से डुबोकर, मुझ 'अधजल' को पूरी भर ले; सुवरन-सी क्रूर नहीं, हृदय-सी नाज़ुक हूँ। सँभाल कर, पथरीले कूप के तरल अन्तःकरण से भर ले।

* * * *

सिंहासन और मुकुट, तीर और तोप, विजय और वरदान, किरीट और कोपीन, शस्त्र और शास्त्र, किससे यह डेढ़ दमड़ी की वस्तु त्यागी गई? पथिक, इसे भर ले; छलकने न दे। इसकी छलक के दिवाले में पीढ़ियाँ बरबाद होती आई है।

शस्त्रक्रिया

मृदंगवादक—

तुम कितने मधुर बोलते हो मृदंग ! कितने मस्तक तुम्हारी मस्तानी घुमक पर नही घूम उठते ।

पर मेरा दुर्भाग्य देखो । अधीश्वरी की आज्ञा है कि मैं तुम्हारे बदन को चारों ओर से चोरों और डाकुओं की तरह बाँध दूँ ।

जब लोग तुम्हारे स्वर पर मस्त होने के लिए अपने आपको तैयार बनाते हैं; तब मैं तुम्हारे बन्धनों को कस-कसकर खींचने लगता हूँ ।

और यह जानकर भी कि मेरी अँगुली मारते ही तुम चीख उठते हो, मै तुम पर प्रहार पर प्रहार करता चला जाता हूँ ।

क्या कहा—मैं निर्दय हूँ ? मेरे प्रहारों से तुम्हारी नज़र में मेरा मूल्य भले घट जाये, किन्तु 'धीर-ध्वनि' मै विश्व मैं तुम्हारा मूल्य घटा देखकर जीवित नहीं रह सकता । मैं यह जानता हूँ कि तुम पर कसे गुन, तानकर खींच दूँगा, तो तुम्हें स्वर-समाधि देने का पाप मुझे लगेगा । फिर तो, राज-रानी का स्वर-लहरों पर चढ़कर, समाधिस्थ होने का सारा व्यापार ही बिगड़ जायगा । तुम्हारी चिर-समाधि का षड्यन्त्र जब मैं रचूँ, तब मैं शस्त्रधारी नहीं रहता; हत्यारा हो जाता हूँ । किन्तु यदि तुम्हारे गुनों को, तुम्हारे विश्व-बन्धनों को ढीला छोड़ देता हूँ, तो तुम्हें अस्तित्व रखकर अस्तित्व न रखनेवाला बना देता हूँ ।

ढीली-डोरों में सेहत ? यह तो तुम्हारे गौरव के ख़िलाफ़, तुम्हारी क्रियाशीलता के ख़िलाफ़, तुम्हारी महत्ता के ख़िलाफ़, साधकर सजाये हुए

मौन का शस्त्र लेकर किया हुआ विद्रोह है। कसे-तने तुम्हारे मस्ताने जीवन पर शस्त्र चलाऊँ ?—तो मैं अपनी आर्यत्वहीनता प्रकट करूँगा।

तब लाओ, मै एक छूरा उठाऊँ। लौह का बना हो, चाहे बालों का, चाहे घास का;—उठाऊँ, और सारे ढीले और सड़े बन्धन काटकर फेंक दूँ।

बस फिर, जिन बन्धनों से स्वर जुड़ेगा, जिन स्वरों पर बन्धन बँधेंगे, उनकी ताल, कितने ही हृदयों पर थिरक उठेगी। और जब 'अहीर की छोहरियाँ' प्रभात-वेला में, तुम्हारी तान पर क़ुरबान, श्यामसुन्दर से रार ठानने आवेंगी; तब श्यामसुन्दर, अधीश्वरी के आँगन में बैठकर विश्वविमो-हिनी बाँसुरी बजाकर तुम्हारे—हाँ तुम्हारे स्वर में स्वर मिला देंगे।

तुम्हें व्रजेश्वरी ने अपने स्वर से स्वर मिलाने का सौभाग्य प्रदान किया है, किन्तु मेरे हाथ में दण्ड-विधान सौंपा है; और उनके स्वर का रुख़ रखकर, तुम पर प्रहार किये जाने की आज्ञा दी है। बोलो, तुम पर हिमायत कर, तुम्हारे गौरव के ख़िलाफ़ ग़दर करूँ, या तुम्हारे गौरव की तरुणाई में शत-शत मस्तकों के साथ, मैं भी तुम्हारे स्वर पर झुक जाऊँ ?

प्यारे, मै अपराधी हूँ। मैं प्रहारी हूँ; अत्याचारी हूँ; शस्त्रधारी हूँ। मैं तुम्हारे कमज़ोर बन्धनों को काट देता हूँ; उन्हें सख़्त, तने हुए, बना देता हूँ।

(२)

कृषक—

ये घिरकर आये हैं। कैसे बरसते हैं—रिमझिम, रिमझिम। क्या ये कृषकों की वेदना पर बरसने आये हैं ?

'हरी हरी' पुकार कर, कृषकों ने 'त्राहि' मचा रखी थी; ये श्यामसुन्दर

आये और कृषकों की शस्य-श्यामला 'हरी-हरी' कर दी। ये काले, बूँदें उजलीं, और भूमि हरी ! यूक्लिड के किस नियम से यह पहेली सुलझाये सुलझे ?

यह देखो इस तरफ़, उस तरफ़, आगे, पीछे, दायें, बायें, केवल हरी-हरी की धुन बँध गई है।

और यह लो मैं उठा। मैं तो इस बेजोड़ हरियालेपन का संहार करूँगा ! क्या तुम यह कहोगे कि मुझे अमृत-बिन्दुओं से प्यार नहीं; हरीतिमा से दुलार नही ?

आराध्य, तुम जो कुछ देते हो, उसका अन्त नही रहने देते ! तुम्हारे सहस्र-सहस्र करों से बाँटी हुई खैरात, दो हाथवाले के क़ाबू की जब हो ?

तुम देते कहाँ हो; तुम तो बरस पड़ते हो। इसीलिए प्रकृति तुम्हारी देन को लेकर, देखो, किस तरह नदियों, नालों, सरोवरों और सागरों में बाँट रही है। वह ज़रूरत का अमृत भूमि पर रहने देकर, तुम्हारी अपार कृपा का भण्डार तुम्हें क्षीर-समुद्र में वापस कर देती है। प्रकृति को पानी वापस करते देख, मुझे भी अपना कर्तव्य सूझ उठता है। मैं भी हल उठाता हूँ, और सारी हरियाली तोड़ डालता हूँ। नन्हें बच्चे खीझ उठते हैं कि मैंने उनका हरा ग़ालीचा तोड़ डाला, हरी दुनिया बिगाड़ डाली ! किन्तु मेरी कुटिया की रानी, मेरी झोपड़ी की परमेश्वरी जानती है कि माँ वसुन्धरा के पेट में ही सती सीता का निवास है। वह मुझसे कहती है कि, पेट पर पट्टी बाँध-बाँधकर, हमने विश्वंभर के दिये हुए जो अन्नकण, जो खाने के मोती, बचाकर रखे हैं, उन्हें विश्वंभरा का पेट चीरकर, सुरक्षित

रख दो। मातृ-शक्ति कई गुना करके हमें लौटा देगी। विश्व-रक्षा के लिए, विश्वंभरी के पेट का दूध, वृक्षों के कन्द-मूल-फल ही से बहता है।

मैं घातक! हल उठाया, और पृथिवी का पेट चीर डाला। और यह लो 'सादे, शाहज़ादे' कपास के पौदे उग आये। पर मैं फिर भी नहीं ठहरा। मैंने खुरपी उठाई, और कपास के साथी-संगियों का संहार कर डाला! राजद्रोह की सज़ा पाये हुए 'ए' क्लास के क़ैदी की तरह ये तूल-तरुवर अकेले रह गये! हरियास भरी आँखों ने कोसा—निष्ठुर, सारी हरियाली बिगाड़ दी! कपास के पौदे भी चीख उठे; उनकी जड़ें भी तो धक्का खा गई थीं। वर्षा, शीत, घाम बर्दाश्त करने के लिए उतारू, सन्तों सा उजला कलेजा लिये रहनेवाले, 'गुणों' के पिता तथा अपने गुणों से, दुःशासनों से, वीणा-धारिणियों की लज्जा बचानेवाले, कपास को तो मैंने दुःख न दिया होता। परन्तु, मेरे प्रहार उनकी चरण-सेवा थी। मैंने अपने प्रयत्नों को माटी में मिलाया और कपास के आसपास खुरपी का शस्त्र चलाया। अहा, शस्त्रों की वही प्रहार-ढेरी, वस्त्रों की ज्वार-ढेरी बन गई।

नाथ, मुझे तो तुमने शस्त्रधारी होने का शाप दिया है, न जाने क्यों?

(३)

मालाकार—

कैसी बढ़िया फुलवारी है। गुलाब है, चमेली है, मधुमालती है, —गरीब हरसिङ्गार भी है। दूर से जब बाग़ दीखता है, सुगन्धों की आशा का उदय कर देता है। निकट आने पर, सुगन्ध लहराने लगती है। किन्तु यह नन्दन कुछ अनोखा है। यहाँ, अपने को व्यक्ति बो गये हैं,—

ज़माने की ज़मीन पर। श्रीधर पाठक के शब्द उधार लूँ तो यथार्थ में 'यहि अमरन को ओकु' और 'यहीं कहुँ रहत पुरन्दर'। वाल्मीकि से लगाकर तुलसीदास तक और राम से लगाकर छत्रपति शिवाजी और राणा प्रताप तक सब यहीं रहते हैं। व्यास यहीं हैं, वाल्मीकि यहीं हैं, कपिल यहीं हैं, कणाद यहीं हैं, राम यहीं हैं, परशुराम यहीं हैं, बुद्ध यहीं हैं, महावीर यहीं हैं, रघु यहीं हैं, दिलीप यहीं हैं, कृष्ण यहीं हैं, विदुर यहीं हैं, नारद यहीं हैं, सरस्वती यहीं हैं, सीता यहीं हैं, द्रौपदी यहीं हैं, प्रताप यहीं हैं, शिवाजी यहीं हैं, छत्रसाल यहीं हैं, अकबर यहीं हैं, कबीर यहीं हैं, मीरा यहीं हैं, सूर यहीं हैं, चैतन्य यहीं हैं, रामतीर्थ यहीं हैं, तुकाराम यहीं हैं, रामदास यहीं हैं। इस ज़मीन का एक तह भी उखाड़ा कि अनेक मनस्वी उठकर बातें करने लगेंगे। इनकी हड्डियों पर हम नन्दन बनाते चल रहे हैं।

मेरे नन्दन के खण्डहर उखाड़ने तो विश्व के बहुत से लोग आते हैं; वे पत्थरों की जड़ों से कानाफूँसी करते हैं और सड़े हुए भोजपत्रों की पूजा करते हैं, किन्तु आज के मेरे नन्दन की ओर वे आँख उठाकर भी नहीं देखते।

रूस, इँग्लैंड, फ्रांस, डेनमार्क और अब जापान आदि ने, अपने साहित्यिक भाईचारे की भेंट का मेला लगा रक्खा है। किन्तु एकाध काशी-प्रसाद और निहालसिंह को छोड़ दें, तो मेरे नन्दन की ओर कोई देखता ही नहीं!

मेरे नन्दन के फूल, विश्व की हाट में होड़ नही ले पाते। इन पर भौंरे घूम लेते हैं, और ये थोड़े से फूल भी लेते हैं; किन्तु विश्व की आवश्यकता और चाह का आधार मेरा आज का नन्दन नहीं बन पाता। तिस पर भी

क्या तुम कहते हो कि मैं छुरा हाथ में न लूँ? अपने कुदाली-फावड़े न सँभालूँ?

ना, मैं नही मानूँगा। देव! तुम्हारे चरणों पर चढ़ाये जाने के लिए, जब मेरे बाग़ के फूल स्वीकृत ही नहीं किये जाते, तब बाग़ के इन बोझों को मैं बाग़ में रहने दूँ?

ना, मैं हरियाली का हत्यारा कहलाकर भी, बाग़ की सब हरियाली अपने बाग़ से खोद बहाऊँगा। मानूँगा नहीं।

मैं अपने हौसलों और गौरवपुञ्जों को मिट्टी में मिला दूँगा, किन्तु हर पौधे को, सम्पूर्ण रूप से अपनी पर आने के लिए बाध्य करूँगा। जो मिट्टी में मिले 'दाने', परिपूर्ण तारुण्य की उभार में न आजायँ, उनकी डालियाँ, काट-काटकर, इसी नन्दन की खाद बना दूँगा। मैं तो इस बाग़ की रसा में रस लाने के लिए, अपनी हड्डियों की खाद दे दूँगा, इस बाग के दाड़िम में दर्द का सा स्वाद उत्पन्न करने के लिए, युग की अरुणिमा तक की खाद दूँगा।

तुम इस समय मुझे रोकते हो? नन्हे बच्चे गालियाँ दें, कि उनके खिलौने मैने मिटा दिये; परन्तु मैं उन गालियों के भय से छुरा रख दूँ?

जिसकी आँखों में भावी का हज़ारा-गुलाब झूल रहा है, वह कीड़े लगे, गुलाब की कानी कलीवाली डालियों पर ममता कैसे करे?

नन्द-नन्दन! जब तक मेरे अमरूदों का अमृत अपनी पर न आवे, जब तक मेरे गुलाबों का गरब, पंखड़ियों की जवानी को काँटों पर झूल-झूल कर इज़हार न करने लगे, तब तक मेरा छुरा मुझसे कोई दूर हटा ले!—अजी मै किसकी मानूँ?

श्यामघन! तुम्हारे बरसने के पहिले मैं हरियाली की अमरता और मस्ती

के ख़िलाफ़, परम्परा से चिपककर, पतन के विद्रोह के ख़िलाफ़ विद्रोह पर झुकी हुई, सब डालियों को एक-एक कर काट डालूँगा। उनके आस-पास काँटे ही बोऊँगा; उनकी जड़ों पर कीचड़ ही डालूँगा, उन्हें सूरज में झुलसने के लिए खुला छोड़ दूँगा। मै नन्दन का हत्यारा नहीं, माली हूँ। मेरा नन्दन, मुझे नन्द-नन्दन से भी अधिक प्यारा है। मैं पत्तियों के साथ लहरता हूँ, कलियों के साथ चटखता हूँ, फूलों के साथ खिलता हूँ, हवा के साथ मेरा मस्तक झुक पड़ता है, उष्णता के साथ मेरी साध कुम्हला जाती है और ओस-कणों के साथ मेरी आँखों में भी आँसू आकर मेरे बाग़ के पौदों के उभार के आनन्द का ज्वार बनते हैं। हत्यारा, नन्दन-नाशक, मुझे उस दिन कहना, जिस दिन मैं, अपनी कैंची फेंक दूँ, चाकू तोड़ डालूँ, कुदाली बिगाड़ दूँ, और फावड़ा हटा दूँ। उस दिन निस्सन्देह अपने नन्दन को, बीहड़ जगल बनाने का अपराधी अवश्य हूँगा।

प्यारे अमर, मै संहार नही; मुझे तो, मेरे प्रभु ने, मालाकार होने का शाप दिया है। मुझे ज़िन्दगी भर वही बने रहना है।

(४)

उपचारक—

कैसा सुन्दर शरीर है, कैसी उपयोगी देह है। रसों की शस्त्र-क्रिया करनेवालों ने, इस बेचारे पर, नायक और नायिकाभेद के कितने वितान नही ताने? चन्द्र-वदन, पिक-बयन, कज-नयन, शुक-नासा, ग़रज़ यह कि अकेली देह पर कितना तमाशा नही खड़ा किया। हमारे आकर्षण का मेल, कवियों के शब्दों के खेल में, जब ठीक बैठता है, तब हम बेचारे शरीर पर, न जाने किस-किस महानता का आरोप करने लगते है।

किन्तु जब शरीर की आँतों में कोई रोग हो जाता है: जब बदन में कहीं फोड़ा हो जाता है, तब ?

यदि मैं तुमसे प्यार करूँ तो तुम्हारे फोड़े से नहीं कर सकता। क्या तुम्हारे घातक से ममता करके, तुम्हारे अस्तित्व से हाथ धोऊँ ?

ऐसे समय, छुरा हाथ में रखकर, मैं तुम्हारी मर्ज़ी पर मस्तक डुलाऊँ या तुम्हारे अस्तित्व को मस्तक झुकाकर तुम्हारी कमज़ोर घड़ियों की वाह और कराह का भान भूल जाऊँ ? यही समय होता है, जब मुझे, रोग और उसके उपचार पर, अपना निश्चित मत बनाना होता है।

और मेरे छुरे लिये हुए अस्तित्व का नाम है, प्राण-रक्षा के लिए अपने को ख़तरे में डालने में न हिचकिचानेवाली निर्णय-शक्ति, और कर्त्तव्य-प्रतिभा। जब विश्व का विज्ञान, आनन्द और अस्पष्टता होता है, मेरा विज्ञान होता है, उचित निर्णय और उसका साहसपूर्वक वर्णन। नहीं, साहसपूर्वक उसे क्रिया में उतारना। तभी मै हज़ारों के प्राणों के साथ खिलवाड़ करने का हक़ रखता हूँ।

यदि ऐसा न करूँ तो मैं बधिक हो जाऊँ। मैंने क़साईख़ाना नहीं खोला, मैंने प्राण-प्रदाता गौरव-मन्दिर खोला है।

देवता और दानव, सब अपना अस्तित्व लिये, मेरे पास अपने प्रकृत रूप में रहते हैं। यह सच है कि सदा ही मेरे हाथ रक्त से रँगे होते हैं, मेरे कपड़ों पर दुर्गन्धित द्रव्य पड़ा होता है, कभी-कभी मुझे भी रोग के कीटाणु लग जाते हैं।

हाँ, यह भी सच है कि जब मेरा छुरा कोई हत्यारा उठाता है, तो वह ईसा को सूली चढ़ा देता है, मन्सूर को फाँसी दे देता है और मीरा को

विष का प्याला पिलाता है। किन्तु जब मेरा छुरा मेरे हाथ में होता है, तब तो प्राण-सञ्चार ही होता है। क्योंकि मै हत्यारा नहीं हूँ, मुझे तो युग के प्रभु ने केवल शस्त्र-क्रिया सौंपी है।

हाँ, जब मैं अपने कर्त्तव्य में बदला, घृणा, संकीर्णता, तुच्छता ले आता हूँ, तब मानो मैं अपने इस पतन से घोषित करता हूँ कि मैं हत्यारा हूँ। मेरी विवेक की आँखें फूट गई हैं, मेरे प्राण, प्राण-रक्षण के बजाय, रक्त-पान के लिए उतावले हो गये हैं। उस समय मैं, प्लेग के कीड़े से अधिक भयङ्कर, और विष-बुझी कटार से अधिक घातक हूँ। मैं ऐसा नहीं हो सकूँगा। मुझे प्रभु ने प्राण-रक्षा सौंपी है। इसीलिए मैं शस्त्र-क्रिया किया करता हूँ। समाज के पेट में, साहित्य के जीवन में और राजनीति के मस्तिष्क में, हर जगह, मेरा छुरा, बराबर चलता होता है, मेरे आँसू बराबर बहते होते हैं।

महत्त्वाकांक्षा की राख

(१)

क्या आपने कभी लिखा ही नही ?

"आलोचना के सिवा।"

कुछ भी नही ? कभी भी नहीं ?

"कभी-कभी, कुछ-कुछ; बहुत दिनों पहले।"

तब आपके लेखन की जन्म-तिथि कौन-सी है और समालोचन की कौन-सी ?

"लिखने की सुखी-इच्छा को दफ़नाने के दिन को ही समालोचन के मंगल-प्रभात बनने का गौरव प्राप्त है।"

तब तो लेखक के यमराज ही को समालोचन का ब्रह्मा मानना पड़ेगा !

"ना, ऐसी बात नहीं है। कुछ लोग निरा पत्थर पूजते हैं। मै अपनी टाँकी से एक मूर्त्ति बनाता हूँ और फिर उसको पूजता हूँ।"

(२)

आपने लेखन को दफ़नाने की आवश्यकता क्यों समझी ?

"चोरों की दुनिया में अधिक दिन रहना ठीक न समझा।"

और यदि रहना पड़ता ?

"—तो चोर बनकर !"

क्या आप यह अपनी निश्चित राय दे रहे हैं ?

"बिलकुल निश्चित।"

इस अनुभव की पुस्तिका के कुछ पन्ने क्या मैं पढ़ सकता हूँ ?

"क्या करोगे पढ़ कर ? 'सौदामिनी' का लेखक बनने की मेरे मन में इच्छा जाग्रत् हुई। मैंने अपने नगर का सुन्दर वर्णन लिखकर भेजा। संपादक उसे पचा गया। मैं समझा, शायद संपादकों को यह नहीं रुचता। नगर की उदासीनता छोड़कर मैंने जंगलों में कितने ही अमरूदों के तोते उड़ाये। गगन के स्वर में गिरवरों का भैरवी-गान लिखा। रमणीय झाड़ियों को कानपुर के लोकमन मुहाल की गलियों से उपमा दी। श्मशान को विश्व के विनोद और संतप्त-हृदय की सेहत का साधन बताया। और, एकान्त को रात्रि के सन्नाटे-सा लिखकर भेजा। पर सब ज़ब्त! 'राष्ट्रीय-वीणा' के संपादक जी ने हफ़्ता पूरा होने के पहले ही मेरा लेख मेरे पास वापस भेज दिया—ज्यों का त्यों। केवल लिफ़ाफ़ा उनका अपना था।"

पहली आशायें और साधनायें नन्ही होती है। वे संभावनाओं के घोड़ों पर नहीं बैठ पातीं। क्या यही—

"—सो बात नहीं। संपादक कोमल लेखकों की आशाओं और साधनाओं का शिकारी होता है? जानते हो, मेरी उस समय क्या हालत थी?"

आपकी हालत? पुरुषार्थ को संचित कर मातृ-भाषा और उसके द्वारा मातृ-भूमि की अधिक सेवा होने के लिए—जिस तरह वृक्ष अपनी सुगंध के लिए कुछ रस ज़मीन से और कुछ आसपास बहनेवाली हवा में से खींचता है, उसी तरह—आपने कुछ अपनी बुद्धि से और कुछ अध्ययन से अपने को परिष्कृत कर साहित्य-सेवा करना तय किया होगा।

"ना, यह बात नहीं। संपादकों की उदासीनता से मेरा मन साहित्य-सेवा के परम हेतु से खिंचकर कुछ समय के लिए हेतु-शून्य हो गया। उस समय

परस्पर-विरोधी दिशाओं के अन्दाज़े लगा कर मैं अपना नया हेतु ढूँढ़ने के लिए उद्विग्नता के सरोवर में गोते लगाने लगा।"

यदि उस समय आपने ऊँचे लेखकों की पुरुषार्थमयी करुण-जीवनियों से सहारा लिया होता और साहित्य-शिल्पियों के रूप में ज़िन्दा रहना तय किया होता तो—

"—तुम नहीं समझते। मेरी बेचैनी के लिए, मधुर साहित्य-सेवा का चिन्तन, कुपथ्य से भी बढ़कर कुपथ्य था। जो थोड़ी-बहुत सेवा मैंने की थी, वह मेरे लिए बोझ थी। छापे की कीलों में वह चाहे पूरी न दबी हो, मगर मेरे आस-पास के मित्र उसे जानते थे। किसी लड़ते हुए के कलेजे में बुलट लग जाने पर वेदना होती है या नहीं, मैं नहीं जानता; किन्तु जब राधामोहन पूँछता था—'तुम्हारी यौवन की रानी नामक कहानी 'वासन्ती'-संपादक ने स्वीकृत की या नहीं?' तब यह सवाल मेरे हृदय के आरपार हो जाता था। ज़ीने से उतरते हुए ज़मीन पर गिर पड़ना मैं बरदाश्त कर सकता था; किन्तु डाकिये का कहानी छपने की इनकारी का पत्र लेकर आना, मानो मेरे साहित्यिक-जीवन के लिए महामारी की बीमारी लेकर आना था। इसलिए पहले मैंने लेखक के नाते, नाम समेत निःशेष हो जाना, और फिर एक उससे भी श्रेष्ठ पथ में चलना तय किया।"

यानी समालोचक होना न?

"हाँ।"

गुरुवर, मैं तुम्हारा शिष्य होकर आया हूँ। मैं भी लेखक-जीवन के कुंभीपाक में नहीं रहना चाहता। लेखक के इस जीवन से समालोचन में, हे प्रभु,—

'तमसो मा ज्योतिर्गमय।'

(३)

समालोचक उवाच—

"अल्हड़-जीवन के क्रोध का परदा जालीदार होता है। उसमें मनो-भावना छनकर आँखों पर आ जाती है। जिसका हेतु आँखों में गिरफ्तार किया जा सके, वह समालोचक के महान् सिंहासन पर आसीन होने का अधि-कारी नहीं। महान् अंधकार में अनन्त योजनों पर निवास करनेवाले नक्षत्रों का चाहे कोई ज्योतिषी पता पा ले, किन्तु किसी देवर्षि की भी यह सामर्थ्य न होनी चाहिए कि सहस्र-सहस्र सूर्य की किरनों के आस-पास खेलते हुए भी, वह हमारे हेतु को गिरफ़्तार कर सके। अंक-शास्त्र चाहे गणित की ग़लतियों का कोई अंदाज़ा बाँध ले,—किन्तु उसे यह साहस नहीं करना चाहिए कि वह हमसे बाज़ी ले सके। पुस्तक के पृष्ठ, पृष्ठ की पंक्तियाँ और पक्तियों के अक्षरों से भी किसी ग्रंथ के विषय में हमारे दिखाये हुए दोषों की तादाद अधिक हो सकनी चाहिए। हमें अपने आक्रमण के लिए लक्ष्य की प्रतीक्षा में सूरज और चाँद की तरह अमावस और पूनो की बाट नहीं देखनी चाहिए। हमारा तो किसी भी ग्रंथ पर उसी समय खग्रास-ग्रहण, जिस दिन हम चाहें!"

राहु तो पूर्णचन्द्र पर ही आक्रमण करता है, बालचन्द्र पर नहीं!

"किन्तु, समालोचना के जगत् में इस बात का खयाल नहीं रखना पड़ता। यहाँ तो अनेक बाल-लेखकों का सहार कर समालोचन की छाप जमानी होती है।"

छोटे, नन्हें बच्चों को चलना सिखाने के लिए मातायें भी तो बच्चों के साथ उनकी अँगुली पकड़कर चलती है। वे उन्हें गिरने नहीं देती। क्या समालोचक के लिए यही करणीय नहीं है?

"ना; हमारे प्रभाव का तूफ़ान ज़िन्दा रखने के लिए, और हमारे अस्तित्व के 'बैरागी' जीवन पर भस्म लपेटने के लिए तरुण और नवागत लेखकों की महत्वाकांक्षा की राख ज़रूरी है।"

तब तो साहित्य से कितनों ही की बाल-हत्या हो जावेगी ?

"हर्ज़ नहीं; अयोग्य नष्ट हो जावेंगे, योग्य ज़िन्दा रहेंगे।"

तब आप जब 'कादंबिनी'-संपादक पर रूठे हुए हैं, किस कारण से ?

"मेरे प्रभाव को मस्तक न झुकानेवाली दुनियाँ की अकड़ को चुनौती मानना मेरा धर्म है।"

और अमर उपन्यासकार मधुरेश जी पर चढ़ाई क्यों कर रखी है ?

"आदमी सदा ही वीर-रस में नहीं रह सकता। उसे हास्य भी चाहिए। समालोचक का हास्य वह छेड़-छाड़ है जिसे वह बिना आवश्यकता के भी उत्पन्न किया करता है। उसकी शक्ति 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थः' होती है।"

किन्तु, आप केवल समालोचक ही तो नहीं हैं; संपादक भी हैं। क्या 'विषदन्त' के संपादक होने के नाते आप पर कोई ज़िम्मेवारी नहीं है ?

"पागल हो ! अरे, समालोचन और आक्रमण की साध पूरी करने के लिए तथा अपने पर अवलंबितों को लेखन और काव्य में 'महापात्र' साबित करने के लिए संपादन एक आवश्यक रोज़गार है।"

आख़िर जो काम नम्र-संकेतों से हो सकता है, वह कठोर चढ़ाई से क्यों किया जाता है ?

"इसलिए कि जिस 'नन्दन' पर भी हमारे तीर पहुँच जायँ, उसे साहित्य की दुनियाँ में श्मशान हो जाना चाहिए।"

आख़िर, समालोचना की आदर्श दिशा चुनने के महाग्रंथ की भूमिका में क्या कहा जावेगा ?

"यही कि, प्रत्येक लेखक और कवि चोर है। कोई विचार चुराता है, कोई भाषा और कोई रचना। यह नहीं होना चाहिए। लेखक या कवि का मौलिक होना ज़रूरी है।"

क्या बिना चोरी के विचार, भाषा और रचना की स्वल्प-समता भी संभव नहीं ?

"परन्तु, लेखक या कवि के पास क्या प्रमाण है कि उसने चोरी नहीं की ?"

क्या इसका अर्थ यह है कि लेखक या कवि होना प्रकृति-प्रदत्त चोर होना है ?

"तो फिर क्या इसका अर्थ यह है कि कहीं से विचार, कहीं से भाषा, कहीं से शैली और कहीं से रचना हड़प कर मज़े में लेखक बन लिया जाय ?"

आपकी दृष्टि में कोई लेखक भले आदमी भी हैं ?

"हमने सब ग्रंथों की परीक्षा नहीं की, किन्तु परीक्षा से जाना है कि अधिक तादाद चोरों की है !"

किसी ग्रंथ या लेखक की चोरी पकड़ने में आपको कितना समय लगता है ?

"अधिक से अधिक छः सप्ताह।"

सो कैसे ?

"अँगरेज़ी या बंगाली के तद्-तद् विषयों के ग्रंथ देखना जहाँ हमने शुरू किया कि चोरियाँ एक के बाद दूसरी हमारे सामने आकर खड़ी हो जाती हैं।"

चाहे उन लेखकों ने आपके पढ़े हुए उन ग्रंथों को देखा भी न हो ?

"बिना देखे वाक्य या भाषा या मज़मून या शैलियाँ कैसे मिल सकती हैं ?"

मैं इस प्रश्न को ज़रा दूसरी तरह से समझने का यत्न करूँ, भगवन् ! आपने कभी ऐतिहासिक पुस्तकों को पढ़ा है ?

"ज़रूर।"

और वैज्ञानिक पुस्तकों को ?

"हाँ।"

राजनीति, अर्थशास्त्र आदि के ग्रंथ भी आपने पढ़े ही होंगे ?

"हाँ, पढ़ लेता हूँ।"

फिर उन ग्रंथों में, कौन सी बातें दूसरे ग्रंथों के आधार पर नहीं लिखी जातीं ? इन विषयों के लेखकों का अपना "शुद्ध मौलिक" क्या होता है, आपने कभी गहराई से सोचा है ?

"मैंने प्रायः ऐसे ग्रंथों की समालोचना नहीं की। यदि करता तो इनमें भी बहुत कुछ ढूँढ़ा जा सकता था। साथ ही, यदि उक्त विषयों में मौलिकता नहीं है, तो क्या साहित्य के लेखकों में भी नहीं होनी चाहिये ?"

ख़ता माफ़ हो सरकार, मैंने यह नहीं कहा कि उनमें कुछ मौलिक नहीं होता। मैं तो यह पूछ रहा हूँ कि जब केवल कुछ विचार, ज़रा-सी शैली और तनिक भाषा मिल जाने पर कहानी, कविता, उपन्यास, आदि के लेखक को सूँघ-सूँघ कर चोर साबित किया जा सकता है, तो आपकी अदालत में दूसरे लेखकों के सारे के सारे विषय को निगलनेवाले कुछ विषयों के लेखक डाकू क्यों नहीं क़रार दिये जाने चाहिए ? यदि वे डाकू नहीं, तो उन्हीं की तरह निर्दोष बनने के लिए क्या आप साहित्य के लेखकों

को दूसरे ग्रंथकारों के समान इजाज़त देंगे ? इन विषयों का भी अपना मौलिक कुछ होता है। परन्तु प्रभु, मुझ मन्दबुद्धि को आप समझावें तो, वह कौन-सा ?

"किन्तु ऐसे विषय ही थोड़े होते हैं।"

ना भगवन् ! ज्योतिष में मौलिक क्या होगा ? व्याकरण में मौलिक नियम कौन-से हैं ? और भूगोल की मौलिक दुनिया कहाँ बसाई जावेगी ? क्या यह सत्य नहीं है कि मौलिकता के रक्त-कर की माँग पर अपना संपूर्ण रक्त चढ़ा चुकने के बाद भी केवल बेचारे साहित्य-शिल्पी ही दीवालख़ोरे क़रार दिये जाते हैं ! यों तो व्यास, वाल्मीकि और कालिदास तथा तुलसीदास भी इस भगवान् की तरह व्याप्त चोरी से नहीं बच सकते। इसके सिवा इतिहास, विज्ञान, ज्योतिष, तर्क और अर्थ-शास्त्र आदि विषयों की आलोचना का बोझ ग़रीब हिन्दी-संसार कैसे सँभाले ? इन विषयों के ग्रंथों की आलोचना वाक्य, शैली और भाषा की चोरी ढूँढ़ कर नहीं की जा सकती। यहाँ हडसन, वेनिटी फ़ेयर और आँख की किरकिरी की माला फेरने से जब काम चलता हो ! यहाँ तो विज्ञान, इतिहास और ज्योतिष आदि विषय प्रकाण्ड विद्वत्ता और प्रगाढ़ अध्ययन चाहते हैं। वह 'राष्ट्र'-भाषा में कहाँ संभव ?

"तो क्या, साहित्यिकों को चोरी करने का लाइसन्स दे दिया जाय ?"

ना, भगवन् ! साहित्य-शरीर के ज़िन्दा रहने के लिए, बाहर की वस्तु, चाहे वे अन्न-जल ही क्यों न हों, हरगिज़ न जाने दीजिए। मौलिक शरीर की बाढ़ के लिए बाहर के अन्न-जल की ज़रूरत ? परन्तु, कलियुग आ गया है !

"यानी ?"

रेलें, जहाज़ और हवाई जहाज़ विश्व भर का ज्ञान लेकर हमारे दरवाज़े उँडेलते हैं। हमारे लेखकों का यह काम है कि विश्व के समस्त ज्ञान के काग़ज़ों को गरम पानी के चूल्हे में जला दिया करें; किन्तु वे उसे पढ़ते हैं। पढ़कर विश्व के चिंतकों की तरह चिंतन करते हैं और उस चिंतन को लिखते हैं। भला यह चोरी क्यों न कही जावेगी ? परन्तु,—

"तब आप साहित्य में मौलिकता नाम की कोई वस्तु ही नहीं मानते ?"

मानता क्यों नहीं हूँ ? मैं तो मानता ही हूँ कि कविता, कहानी और उपन्यास के लेखक ने माँ के पेट से जन्म तो लिया ही होगा। माँ ने शब्द सिखाये होंगे; पिता ने वाक्य बनाना। शाला के पाठक ने भाषा 'बनाई' होगी ! विद्वानों ने अपने विचारों और शैलियों से संस्कार किया होगा। और इसी बीच ग्रंथों ने आकर विद्वानों का स्थान ले लिया होगा। तब फिर इतनों की चोरी करनेवाला साहित्यिक, चोर क्यों न होगा ? इसलिए मौलिकता का अस्तित्व मान भी लूँ तो अपनी मन्दबुद्धि के कारण यह मेरी समझ में नहीं आता कि आख़िर मौलिकता है कौन वस्तु और वह बेचारे साहित्यिकों ही की साढ़साती क्यों बनी रहती है ?

"इस बात का पता उस दिन लगेगा, जब तुम अपना मुँह किसी दिन मासिक 'विषदन्त' की संख्याओं को उठाकर देखोगे, जिनमें मैं अपना ईमान व्यक्त किया करता हूँ।"

आपके ईमान की जय हो, भगवन् !

साहित्य की वेदी

तुम्हारी वेदी !

वेदी वह, जिस पर मैं आदर से आँसुओं के फूल चढ़ाने को लालायित रहता, जिसकी ओर से आनेवाली वीरता की झंकारों को सुनकर पापियों में पवित्रता उमड़ पड़ती, कमज़ोरों में बिजली दौड़ जाती, साहित्य की ध्वनि-धारा में अद्भुत राष्ट्रीय-संगीत सुनाई पड़ने लगता, नीर-क्षीर बिलगानेवालों का दल जिसके आस-पास कुतूहल से चंचल हो फुदकने लगता, साहित्य-सुधा के मधुर सरोवरों के सरसिज, मृग-मद की मस्ती पर झड़नेवाले परिमल को छोड़-छोड़ उसे सुगन्धित करने लगते;—ऐसी, ऐसी वह तुम्हारी वेदी ! लो, एक बार मैं उसकी ओर झुक लूँ ! मेरे जीवन का वह सर्वस्व, मेरी आशाओं की वह पिटारी, मेरी जाग्रति-नटी की वह नाट्य-पटी, मेरी मातृ-भूमि की गोद की वह शोभा और मेरे पिछड़े भू-भाग की वह परम-पावनी कर्त्तव्य-पीठिका, देखूँ कैसी हो रही है !

*　　　*　　　*　　　*

मैं उसे मूल्यवान् समझता हूँ, किन्तु उसका मूल्य चाँदी-सोने के टुकड़े नहीं हैं। वह मूल्यवान् होकर भी खरीदने, बेचने और उपहार में देने की वस्तु नहीं है। उसे पानेवाले के शरीर पर, 'फटे पुरानेपन' का राज्य, पथ में विरोध, ग़रीबी, घृणा, क़ानून और लक्ष्मी के ग़ुलामों की कृपा के तीखे काँटे, पदों में पुण्य की ओर न बढ़ने देनेवाले बन्धन, शिर पर मिट जाने की कल्पना, कण्ठ में तौक़ और तिसपर भी माता की पूजा के भावों से मस्त मीठा स्वर, आँखों में श्रम की क्षीणता और तुम्हारे चरणों के धोने के लिए आँसुओं की धारा, गालों पर ईसा के आज्ञा-पालन की तैयारी, मुँह में मौन

भाषा की मनोहर स्तोत्र माला, हृदय में देश की दसों दिशाओं में गूँज मचाने-वाली वीणा तथा दुर्बल को सबलता का स्वरूप बना डालनेवाली पुस्तक लिये हुए तुम, और हाथों में, अपनी श्यामता से श्याम के मन को भी मोह लेनेवाली लेखनी,—वह लेखनी, जिसके चल पड़ने पर मरे हुओं में जीवन-ज्योति जगमगाने लगे, बिछड़े हुए मिलने को टूट पड़ें, सोते हुए जाग्रति का सन्देश पहुँचाने लगें और पिछड़े हुए अग्रगामियों को पथ में पीछे छोड़ बैठने की ठानते दीखें,—ऐसे अक्षरों के उपासक, शब्दों के साधु, पदों के पूजक, व्यंजनों के विजयानंद विहारी, सन्धियों के निर्माता, और 'पूतना मारण लब्ध-कीर्ति' के अंग में नित-नव आभूषणों को समर्पित करनेवाले; किन्तु प्राणों को, मतवाले हो क़लम के घाट उतारनेवाले ही को अधिकार है कि वह आगे बढ़े और तुम्हारी अमृत-सन्तानों की आज्ञा को शिर पर धर कर तुम्हारा पवित्र सन्देश सुनाने, तुम्हारा दिव्य दर्शन कराने और तुम्हारे लिए की हुई आजन्म तपस्या का प्रत्यक्ष परिचय देने के लिए आगे बढे, और आशीर्वाद के जल-कणों से सिंचित उस वेदी रूपी गोदी में पके हुए, परिमलपूरित, प्रफुल्लित पंकज के समान शोभित हो वह महाभाग, और उस तुम्हारे भावों के मतवाले के मस्त सौरभ से महक उठे माता, वह तुम्हारी वेदी।

* * * *

पुकार हुई और तुम्हारे आराधकों ने तुम्हारे एक सेवक को ढूँढ़ा। उसने गिरिगह्वरों में प्रवेशकर तुम्हारी अमृत सन्तानों का मित्र बनकर तुम्हारा कीर्तिगान किया था, उसने हिंसकों से पूरित बीहड़ वन में तुम्हारे वाहन के नाम की गगन-भेदिनी गर्जना सुनाने में साथ दिया था, उसने तुम्हें पहनाने के लिए माला गूँथने में अपने को आगे बढ़ाया था, और उसने

हिंसकों के हृदयों को न हिलाकर, हिमालय के पुत्र की एक कन्दरा में अपना जीवन बिता समर्थ के सन्देशों को दुहराया था, और उसने कर्मयोग के सन्देश-वाहक का सच्चा सेवक बनकर दिखाया था। हम दौड़ पड़े, और तुम्हारी वेदी, उसकी महत्ता और पूज्यता की रक्षा के लिए उसके चरणों में बैठकर बड़ी आव-भगत से आराधना की। उस संसार को परिवार माननेवाले, उस "यो यथा माम् प्रपद्यन्ते" के व्रती, उस वचनों के निर्भीक, दर्शन के भिखारी और कर्मों के तपस्वी की छाया में बैठकर हमने स्तोत्रों का पाठ किया, षड्यन्त्रों के सिवा शेष यन्त्रों की रचना दिखलाई, मारण और उच्चाटन के सिवा शेष मंत्रों का प्रयोग किया और उस स्वतंत्र दीखनेवाले के तन्त्र में आ जाने के लिए प्रत्यक्ष आत्म-समर्पण का वचन दिया। किन्तु उसने, उस स्वतंत्रता को चरम सीमा की सेविका बनाकर, हतभागिनी बनानेवाले देव ने हमारी हज़ारों आकांक्षाओं और तुम्हारी आज्ञा और आदेश के अनेक अनुसन्धानों को अपने पदों से रौंद डाला। गौरव उसकी दृष्टि में रौरव था। उसने वही सिद्ध किया। उसने गौरव के सारे कलरव को कोलाहल कहकर ठुकरा दिया। और वेदी पर चरण रखकर चढ़ने के बजाय, उस पर अपना मस्तक रखने की इच्छा प्रकट की।

तब से मस्तक उठाने, मस्तक रखने और मस्तक और हृदय की बलि चढ़ानेवाले लोग अपने आत्मदान से तुम्हारी इस वेदी को हरा-हरा किये हुए हैं।

और वेदी के ये उपासक, अमर हैं, अविजित हैं, सदैव आराधनामय हैं; इन्हीं को पाकर निहाल है, तुम्हारी वेदी।

बिन्दु, सिन्धुत्व का दावेदार

जल-बिन्दुओं में यदि मिश्रण का स्वभाव न हो तो जल-समूह सिन्धु न कहला सके। द्रवित के देवत्व में प्रकृति ने भी अपने को सीमा-रेखा खींचने में असमर्थ पाया है। इस भूमिका का यदि कोई जल-बिन्दु-प्रतीक ढूँढ़ने चले तो वह किसी ह्विटमन, किसी सूर, किसी तुकाराम, किसी चेख़ब के पास आकर ठहर जाय।

ऊपर से नीचे की ओर गिरना—कैसी कठोर तपस्या है? नीचे से ऊपर की ओर अप्रयत्न समूल छुपकर गया था, वायु बनकर; और ऊपर से नीचे की ओर व्यक्ति बनकर टपक आया; बिन्दु बनकर।

कुछ वे हैं जो ऊपर चढ़ने को इतिहास कहते हैं, कुछ वे हैं जो नीचे उतरने को देवत्व बताते हैं। पहलों का उदाहरण मुक्तिवाद है; दूसरों का उदाहरण अवतारवाद है। परन्तु नीचे का उतार ही तो ऊपर जाने का प्रजनन है। इसीलिए मज़हब नीचे से ऊपर चढ़ने की गुण-गाथा रचता है, और कवि ऊपर से नीचे को अपनी गंगा बहाता है। किन्तु टोटे में तो वे रहते हैं कि आँखों की सतह पर उतरानेवाले प्रकृति के इस प्रकृत कौशल में सीमा-रेखा खींचने का बचपन करते हैं। मैं तो अवतार की तरह उतावले, गंगा की तरह बावले, उतार को नमस्कार करके अपनी बात कहना चाहता हूँ।

आँखों से देखने का उदार सौदा अनेक वर्षों करने के बाद, कहीं आँखें देखने की आदत आती दीखी। ये दोनों काम सृष्टि में पड़नेवाले अकालों की तरह दूर रहे। किन्तु एक दिन कोई बाँसुरी बजा उठा। और जिन आँखों को मैं देख रहा था, उनमें पानी भर आया। ज़रूरत का आवेग उस पानी

को बाहर ढकेल रहा था; और लोक-लाज की लाचारी पलकें बनकर उसे अन्दर को समेटना चाहती थीं। इस तरह स्नेह और शास्त्र में पचास फ़ी सदी की जीत-हार चल रही थी। हाँ, पर मैंने देखा, समूचा दिन बीत गया किन्तु सूरज के पाँव के कोई निशान ज़मीन पर बाक़ी नहीं रहे। जिसे कोई इतिहास कहता, साहित्य कहता, शास्त्र कहता।

मैंने अपनी बाँसुरी, लाचार उठाई। और साँसों के हाज़िरी रजिस्टर में सूरज और चाँद के हरी-हरी ज़मीन पर किये गये पापों और पुण्यों का लेखा-जोखा बाँसुरी की ध्वनि में, ध्वनियों में, गूँथकर उसे ज़मीन के पत्थरों, भोज-पत्रों और खण्डहरों पर रख दिया। लोग कह उठे—'युग बोल उठा!' मुझे नहीं मालूम मेरी बाँसुरी के सिवा युग किस चीज़ का नाम है?

जिस दिन बाँसुरी बोली, मुझे ढूँढ़नेवाले निकल पड़े। शस्त्र के मानव के तो मैं हाथ न आता किन्तु शास्त्र का दानव सर्वव्याप्त था और मेरे प्रयत्नों के सारे रहस्य को वह अपनी जागीर बताकर उसे भक्षण कर गया। मैं उस समय चिल्लाता था। किन्तु, कवि का 'मैं' तो उस अभागी वस्तु का नाम है जिसके गीतों की मिठास का भी तमाशा देखा जाता है और जिसके सर्वनाश के रोदन का भी तमाशा ही देखा जाता है।

मेरी लाचारी और उसासों का नाम जिस दिन 'कला' पड़ा उस दिन मुझे मालूम हुआ कि मेरा चिर-संचित 'स्व' मानों बाजार में बैठा दिया गया। मेरी सिसक आज रोज़गार हो गई!

बे-मौसम मेरे जी में आनेवाली वेदनाओं का मौसम बतानेवाले ही तो मुझे कलाकार के नाम से बदनाम करनेवाले जीवधारी हैं।

किन्तु, नदी चाहे जितनी तरल-हृदया हो वह इतनी बलशालिनी तो

नहीं होती कि किसी ज़रूरतमन्द प्यासे को देखकर वह अपने में जब चाहे बाढ़ ला सके। और अपने आपको प्यासे के ओंठों तक पहुँचा सके।

विधाता के निर्माण में यही तो कमी है कि सीमाबद्धता से अस्तित्व बनता है, सीमा तोड़कर वह ज्यों का त्यों नहीं रह जाता।

तब सूझ की देन के मर्यादित उपकरणों को एकत्रित कर मेरे बन्धन और सर्वनाश के साधन एकत्र किये गये। उन्होंने शास्त्र नाम पाया। और जो मीठा-मीठा सा, कोमल-सा, कल्पना में बेदाग़ और ऊँचा किन्तु कर्मण्यता में लाचार-सा सूझ का वैभव बाक़ी रह गया, उसे कला का नाम दे दिया गया।

मानो कोई कहानी लिख रहा था और उसका पहला वाक्य था—एक था राजा और उसके यहाँ थी एक दासी। यह समझौता मुझे कभी स्वीकार नहीं हुआ। इसीलिए मैंने शास्त्र को घिसे हुए पैसे की तरह रूढ़ कहकर पीछे फेंक दिया। और अपने लिए विद्रोह का रास्ता अख़्तियार किया। अब मेरे शब्दों में कला, प्रलय के खिलवाड़ को कहते हैं, विद्रोह को कहते हैं।

विद्रोह की यही भावना थी जिसने ख़यालों के परिवर्तन को जगत् पर उतारा। पहले मानवों के द्वारा विचार बनते थे; अब विचारों की ज़मीन पर विधाता अपने मानव ढालने को बाध्य हो गया है। यह केवल मेरी लेखनी का प्रसाद था। शास्त्र बेचारा लाचार था कि उससे सब कुछ बन सकता है, मानव नहीं। विधाता जो प्राणी विचारों पर नहीं ढाल सकता, वे विधाता के बनाये हुए होकर भी जड़ हैं। चतुष्पाद होकर भी जड़ हैं। बलवान होकर भी पराधीन हैं। शक्ति—वृन्दावन की गाय हैः और मेरी

प्रजनन-भावना यशोदा ग्वालिन है। एक दुही ही जायगी; दूसरी दुहती ही जायगी।

बाँसुरी के स्वर पर साँप स्वभाव भूलने लगे: तब मानव तो कहाँ तक बेकाबू रहता ? विभूतिधारी मुझको, विश्व-विभूति का स्वामी बनाकर सिंहासन पर बैठाया गया। सूर्य-किरणों ने भूमि की गलियों और धाराओं से चूस कर मुझे हिमालय के सिर पर हिमखड बनाकर उच्चत्व प्रदान किया। रिश्वत बहुत बड़ी थी; शताब्दियों मानवता का मुँह बन्द कर देने के लिए। किन्तु यदि मै उसे स्वीकार कर लेता तो मेरी पीढी, वृन्दावन की गायों की पीढ़ी, और काबुल के घोड़ों की पीढ़ी, किसी दूबीले स्थान पर साथ साथ चरते रहते। सिंहासन पर बैठते समय मुझे अकेलापन बोझीला मालूम हुआ। मै तो वही बिन्दु था न, जिसमें सम्मिश्रण-भावना का तारुण्य था और बिन्दुत्व की मर्यादा को मिटाकर सिन्धुत्व प्राप्त करने के लिए सदियो तक पतितोन्मुख निम्नगा बनने की तैयारी थी। मेरा तो स्वभाव ही ढालू ज़मीन की ओर जाने का है। ऊँचे के वैभव को नीचे आकर बाँट देना ही मेरा तरलाई का वरदान है।

रिश्वत की थरथराहट से मैं नगाधिराज के मस्तक पर हिमशैल बनाकर बैठा दिया गया था, किन्तु सूझ की सूर्य-किरणें, जो मेरी अपनी चीज़ है, मुझे नीचे को बहा लाईं। आकाश के देवताओं ने कहा होगा "यह परम उज्ज्वल, परम निर्मल, उच्चातिउच्च से—और कितने नीचे जायगा"। किन्तु मै तो ज़मीन के मानवों की वाणी सुन रहा था; जो मेरे उतार को भगीरथ-प्रयत्न कहकर पूजा कर रहे थे।

और देवताओं के उस सिंहासन से 'उतरकर' मैंने गति पाई, प्रगति पाई; प्रवाह पाया, प्रभाव पाया; रंग पाये, तरंग पाये। और जहाँ तक मै प्रवाहित

रहा अपने दोनों किनारे हरे-भरे पाये। मानो, शास्त्र ने उच्चत्व से मुझे देश-निकाला दे दिया। रूढ़ि की दासी, सूझ के राजा के साथ और व्यवहार ही कौन-सा करती ? यदि मन्थरा के दिमाग़ की विकृति राम को देशनिकाला दिलवा सकती थी तो मैं भी वही पथ क्यों न ग्रहण करता ? किन्तु, मेरा यह देशनिकाला मानो, मृत्युरूपी मैके से अमरत्व के दिग्विजय के लिए मेरी विदा थी। बिन्दुओं के धारा बने जीवन में मेरे ज़बान न थी किन्तु मेरी गति से भी स्वर निकलता था। ठोकर मुझमें विद्युत् और संघर्ष मुझमें संगीत भरता था। मुझे चढ़ते समय किसी ने न देखा था; किन्तु आसमान से उतरते समय मेरे टेढ़े-आड़े पैरों के निशान बनकर इन्द्रधनुष बनते थे; बिगड़ते थे। वायु, ऊपर को भले जावे किन्तु तरलाई तो सदा आकर्षण की ओर जाया करती है; चाहे उसे गुरुत्वाकर्षण कहिए। विश्व के समस्त प्रजनन का केन्द्र-बिन्दु आकर्षण है। सन्तत्व के प्रजनन का भी; देवत्व के प्रजनन का भी ! क्या तुम मेरे इस आकर्षण को कला कहोगे ? तब तो तुम मातृत्व को रोज़-गार कहोगे ! शास्त्र और कवि से झगड़ा होने की यही जगह है। तुम सत्य को न समझकर भी उस पर बहस कर सकते हो और मेरे लाचार मौन में से भी सत्य ही का स्वर झंकृत होता है। बिना उपकरण, बिना सेना, बिना साधन और बिना सामर्थ्य जब मैं वैभव के घर से निकाला-सा ज़मीन पर बार-बार चलकर तरल धारावाली किनारे बनाती पगडण्डी बनाता होता हूँ तब यदि बादल आ जाते हैं तो मैं किसी झाड़ के नीचे खड़ा हो जाता हूँ। मैं होता हूँ, मेरा साहस होता है, मेरी कविता होती है। उस दिन तुलसीदास के शब्दों में कौशल्या की तरह मेरे लिए कोई यह कह चिन्ता नहीं करता कि:—

काहू बिरछ तर भीगत हुइ है
राम लखन दोउ भाई ।।

पानी मुझे बहा नहीं सकता। गरमी मुझे जला जो न पाई थी। उसने प्रवाहित कर दिया था। तब पानी मुझे कैसे बहाता? उन बरसाती बूँदों के बीच खड़े हुए थरथराते हुए मेरे शरीर का पृथ्वी के हरियाले वैभव ने, फूलवालों ने फूल लेकर, काँटोंवालों ने काँटे लेकर और पत्तीवालों ने पत्ती ही को हिला-डुलाकर उस एकान्त में मेरा वन्दन किया था। उस समय मुझे ऐसा लगा कि किसी बबूल के बगल में ऊगा हुआ मैं भी एक बबूल ही का पेड़ हूँ। मानो वायु की सनसनाहट और पत्ती की फरफर में मैं वृक्षलोक की भाषा का कवि हूँ। काँटे कहानियाँ कहते-से, फूल पूजा करते-से और पत्ते धीरज बँधाते-से नज़र आते थे। तिस पर उस समय का टिटहरी का बोल पड़ना। मानो ज़मीन पर गड़ती हुई आँखों को आसमान ने न्यौता भेजा था।

करंज के झाड़ पर मैंने अपने दोनों हाथ उस वर्षा में लटका दिये थे। किन्तु उस झाड़ की जड़ों से डालियों में चढ़ता हुआ रस, डालियाँ समझकर मानो मेरी भुजाओं में भी चढ़ा जा रहा हो। पैरों के नीचे ज़मीन थी, सिर पर आसमान की बूँदा-बूँदी थी, काँधे के पास पक्षी दुबक कर बैठे थे, जड़ें हाथों में रस दे रही थीं और मैं नदी के तट पर निस्तब्ध खड़ा था। तब मुझे यह विभ्रम कैसे न होता कि मैं वृक्ष हूँ। तब, बरसती बरसात में मैं हरा-भरा सुखी हो उठने के बजाय, दुःख किस बात का मनाता? आसमान से गिरते हुए त्रिशंकु को चाहे किसी ऋषि ने बचाया हो या नहीं बचाया हो, किन्तु, वृक्षों की मस्तानी एकतानता ने मुझे ज़रूर वृक्षत्व के अमर हरियालेपन से न

पानी में नीचे बहने दिया; न मानवत्व के आभास से मुझे नीचे गिरने ही दिया। इस तरह वृक्षों के मौन गुरु ने मुझे एकरसता के हरियालेपन का ऐसा पाठ पढ़ाया कि अब जब कभी मेरे अमरूद की डाल से मेरी चम्पकलता गाय अपना काँधा रगड़ने लगती है, तब मैं उस पर नाराज़ होने दौड़ता हूँ कि कहीं वह अमरूद की डाली में छाले न पैदा कर दे। गुलाब की अन्तरात्मा में उतरने के लिए किसी जगदीशचन्द्र की ज्ञान-सीढ़ी की किसी कवि को ज़रूरत ही कैसे पड़ सकती? हृदय तो वह स्टेशन है जिस पर अस्तित्व अपना लगेज लेकर नहीं आ-जा सकता। अस्तित्व का यह स्थान, आकर्षण का यह देवालय, प्रवाह का यह अमरत्व, गति का यह संकेत-दर्शन, मेरे गुप्तांगों की तरह मेरे साथ है और जीवन की समस्त परिमितताओं के साथ यह मेरे ही साथ रहता आया है, मेरे ही साथ रहता जायगा।

मै गतिशील हूँ, मै तरल हूँ, मै प्रवाही हूँ, मै निम्नगामी हूँ, मै विश्व की समस्त हरीतिमा के, भूमि के प्रतिकूल विद्रोह कर, ऊँचा, सपुष्प, सफल बनानेवाला, जीवन रस हूँ।

नीलाम

गुलाब, तेरे बोझ से 'भी' डाली झुक रही है ! इसलिए कि तूने भूमि से रस लिया है और वायु को सौरभ प्रदान कर दिया है । तूने अपने आत्म-प्रभाव से प्राप्त देवत्व को विश्व-सेविका वायु के चरणों चढ़ा दिया है । इसीलिए तो वह, प्रातःकाल आकर, पत्तों से, बेचैन कलियों पर पंखे झला करती है । किन्तु, तेरी शोभा, तेरा पुरुषार्थ, कलियों की कला और लालित्य में कहाँ है ? वह तो काँटों के तेज और पुरुषार्थ में विद्यमान है ।

किन्तु कला और लालित्य, तेज और पुरुषार्थ,—आज तो सब नीलाम पर निकले हैं । ज्ञान की गठरियाँ बहुत हैं; मानवत्व की मरीचि-मालाओं का टोटा है । तुकी और बेतुकी तितलियाँ बहुत हैं; प्रभु-बोझीले, नभ-विच्छेदी गरुड़ का पता नहीं । गीत हैं,—ग्रामोफोन की चूड़ियाँ चक्कर काट रही हैं; नन्दन की मयूरी कहाँ कूक रही है ? देवता को पत्थर बनाकर सिंदूर लपेटनेवाले हैं; स्वयं प्रभु की आकाशवाणी बननेवाले कहाँ हैं ? यूनिवर्सिटी की तादाद बढ़ानेवाले हैं; किन्तु वीणा-धारिणी के युग-संदेश-वाही मयूर नहीं हैं । क्यों ?—

'इसलिए कि आज मै नीलाम पर बिकने निकला हूँ ।'

*   *   *   *

आज ग़रीबी गर्व नहीं रह गई । कारलाइल के शब्दों में विद्वत्ता का अमर अधिकार आज बिकने निकला है । एक दिन मेरे जन्म पर आ-भार माना जाता था । विनोबा के विनोद में, अब 'आ' उपसर्ग का लोप हो गया है । आज का ब्रह्मत्व यजमान की तलाश में है । सिद्धाई ने संग्रह पर चढ़ाई की है । सरस्वती मयूर पर, विष्णु साँप की गोद में सागर की लहरों पर, शिव बर्फीले

हिमालय पर भले रहें, पर मेरा ब्रह्मत्व तो दाता के द्वार पर खड़ा रहेगा! विधाता के द्वार पर तो गङ्गा-जल मिलेगा; तुलसी-दल! अब "अकाल-मृत्यु हरणम्" के रिकार्ड की आवाज़ पर अकाल मृत्यु न हो, तभी आश्चर्य!

'क्योंकि आज मैं नीलाम पर बिकने निकला हूँ।'

*　　　*　　　*　　　*

"पण्डिता-वनिता-लता"—ब्रह्मत्व का कैसा मणिकांचन संयोग है? कहते हैं—ये स्वावलम्बी नहीं होते! हमने "सा विद्या या विमुक्तये" को कैसे सुन्दर ढाँचे में बदल दिया है। भैंस को दाना दो; वह दूध देगी। हमें दाना दो; हम साहित्य देंगे! भैंस स्वयं घास खायेगी; हम स्वयं दास रहेंगे। भैंस के चार पाँव हैं, हमारे भी ज्ञान के दो पैर और हैं। हम प्रभु को पुकारते समय कहेंगे—"पापोऽहं पाप कर्माऽहं"। यह कैसी पुण्याई है जिसे हमने "सोऽहमस्मि" से बदला है! हृदय का विश्वात्मा कहता है "गगन-गम्भीर" पूजा, व्याकुल विश्व कहता है—'वीर-पूजा'; परन्तु मैं सुनता हूँ—'शरीर-पूजा'! तब मेरी वाणी में रस क्यों हो? मेरी वीणा में स्वाद कहाँ हो? मेरी बाँसुरी में स्फूर्ति कैसे हो? साधु विनोबा की इस बात का उत्तर क्या दूँ?—

'मैं तो नीलाम पर निकला हुआ हूँ।'

*　　　*　　　*　　　*

यह लो, क्रान्ति का आकर्षक रंग लेकर 'तरुण' परिवर्तन आ गया। साहित्य के दर्पण को वह अपने से प्रतिबिम्बित करेगा; तत्वज्ञान की वाणी को अपने गर्भ से गौरवमयी। वह पतन से परे का रक्त आ रहा है। कल्पना, स्फूर्ति की कूँची लेकर, प्रकृति को सतेज व्यक्तित्व के आकर्षक रंग में चित्रित करने उठ खड़ी हुई है। वह भूतकाल की करुणा में से भी उथल-

पुथल चुन रही है; भावी के हरियालेपन को भी प्रलय से पुष्पित कर रही है। क्या वह मेरे लिए ठहरती ? हाय मै !—

'मैं तो नीलाम पर निकला हुआ हूँ।

* * * *

राजनीति नहीं चाहिए! भाषा शब्दों ही से बनी है न? शब्द ब्रह्म है न? शब्दों के कुछ मानी हैं न? फिर 'राजनीति' के शब्दों के कुछ मानी नही ?

भोजन चाहिए; राज्य नहीं चाहिए! शब्द चाहिए; अर्थ नहीं चाहिए! साहित्य चाहिए; किन्तु उसका आधार राष्ट्र नहीं चाहिए।

गुलामों के त्यौहार, वीर्य-हीनों के बल, बहरों की वीणा, गूँगों के गीत;—नमस्कार तुझे और तेरी साध को!

इतिहास ने, इसीलिए, राजाओं और सरदारों को लिखा; योद्धाओं और सैनिकों को भूल गया। राजपरिवारों और नवाबी ऐयाशियों को लिखा, गरीबों की वेदना और बलिदान को भूल गया।

इस दिशा में कालिदास, माघ, बाण,—सब कला और लालित्य के नाम पर तेज और प्रताप के पेट में छुरा भोंक गये। स्फूर्तियों के बाग़ में रूढ़ियाँ लहलहाने लगीं।

इसीलिए नई लहर की मर्म-वेधिनी लेखनियाँ, शूली के द्वार तक, पतन से कैफ़ियत लेने आ रही हैं। आश्चर्य, मैं दम्भ भले होऊँ, बूढ़ा हूँ, अतः पूज्य हूँ! मेरा वज़न कूतो! क्या इसलिए कि—

'नीलाम की बोली में मेरा मूल्य कूता जाता है?'

* * * *

अब इतिहास, कुटुम्बों में, कलह को कर्मण्यता में बदल रहा है। देहातों और शहरों में गलियाँ और घूरे साफ़ कर रहा है। शहरों में समान-जीवन की आग भड़का रहा है। बाज़ारों को पञ्चायतें बना रहा है। महज्जनों की महानता को, देवता के प्रसाद की तरह, कालू नाई, रमलू धोबी, और बोधा मेहतर में मुक्त होकर बाँट रहा है। अब साहित्य, विश्व की उथल-पुथल के रूप में समय का सन्देश अपनी पीठ पर लादकर निकला है। उसकी झोली में व्यास और वाल्मीकि हैं; होमर और अरस्तू हैं; तुलसी और सूर हैं, बायरन और गेटे हैं। यूरोप के तो 'क्रूसेड' भी साहित्य से इतिहास की गाँठ बाँध गये,---ग़रीबों के साहित्य और इतिहास की। ग़ोरी और ग़ज़नवी भारत की वही गाँठ तोड़ कर रख गये ! इसीलिए तुर्किस्तान के क़माल की विजय को पराजय बनाने, भारत के रहमू और क़ादिर की पलटन गई, और अफ़गानिस्तान के अमानुल्लाह के सर्वनाश को देवबन्द के मुल्ला पहुँचे। क्यों ?—

क्योंकि मै अपने को, नीलाम पर चढाये हुए हूँ ।'

*　　　*　　　*　　　*

मेरी वाणी तो "छन-छन" के मीठे बैन बोलती, नंगी औरतों से सरो-वरों के पानी की नाप करती, और दिगम्बरा-बालाओं को गंगा में तैरा कर उनकी त्रिवेणी बनाती ! जगत् का नाश भले हो, महाराज जगतसिंह खुश होने चाहिए ! नीलामी पशु हरी घास के लिए क्या क्या न करता ? इस समस्त कीचड़ में से कमल की तरह कविवर भवभूति के पद पर पद रखकर महाराष्ट्र सन्त कवि रामदास का दास-बोध, भूषण के कुछ पद्यों को लेकर आर्य-जीवन के अनार्य पतन के ख़िलाफ़ गूँज मचाता आया। पर, शस्त्र के

मानव को शास्त्र का दानव जब जीने देता ? राजा परमेश्वर था; प्रजा गूँगी भेड़ बनकर उसकी मर्जी पर कट जाने की चीज़ हो गई। उन दिनों नाच था, रंग था; आमोद था, प्रमोद था। राजा तल्लीन था। साहित्य उस समय क्या कर रहा था ? वह इसी घिनौनेपन पर, मक्खियों की तरह भिनभिना रहा था। तिरुवल्लिवर, तुलसी, मीरा, नरसी मेहता, विद्यापति, तुकाराम और नामदेव और न जाने कितने साधक आये; जुड़े हुए हाथों और झुके हुए मस्तकों से। ये कुछ ऊँचा खींच सके; पर मुग़ल, राजपूती और हाँ, बहादुरी के सब अड्डे, चकले हो चुके थे। तब मुझे भी विनोद, विलास और वारुणी की ज़रूरत क्यों न होती ? इसीलिए—

'मै नीलाम पर चढ़ा चला आ रहा हूँ।'

* * * *

आज इतिहास की इस पामरता में आग लगानेवाली अँगुलियाँ आगे आ गई हैं—साहित्य के कुम्भीपाक में भी। व्याकरण और पिंगल के नियम उस समय लोगों को बाँधने के लिए खीझ रहे और अपना अधिकार आज़मा रहे हैं; जब तरुणाई वाक्यों की नहीं, लौह-खण्डों की शृङ्खलाओं को प्राणों तक के मोल तोड़ने पर तुल पड़ी है।

अब महत्त्व की वस्तु, महानता के व्यक्ति, और मदमस्त संस्थाओं को तेजस्विता के घाट उतरना होगा। ऐतिहासिक स्मृतियों, रसीली कविताओं और मनोहरा-प्रकृति को यदि ज़िन्दा रहना है तो पतित होते हुए पापियों के लिए नहीं, ऊँचे उठते हुए मस्तानेपन के लिए मसाला देना होगा। टकसाली नियमों, लक्षणों और निषेधों के उस पार भी, जगत् है, एक बड़ा जगत् है।

उस ओर जाकर नवीन-सृष्टि करनेवाली नई रेखों और बे-मूँछों की दुनियाँ, पथ न देने पर समाज को सेतु बाँधने का लकड़ी-पत्थर बना लेगी और साहित्य को पैर रखकर ऊपर चढने की सीढी। राज-शृङ्खलाओं को पहनकर भी, वह लचलचे पतन के खिलाफ़ इस पथ में जावेगी, और 'भविष्य' की वीणा के समाज, साहित्य, तत्त्व और राजनीति के तारों को—वीणा के कान उमेठ कर भी मुक्ति का स्वर गुँजाने के लिए बाध्य करेगी। जो हम टुकड़ों के मोल नीलाम होते आये है, क्या हम 'मरण-त्यौहार' की क़ीमत पर, 'अमरता' के भाव, खरे न उतरेंगे? क्या इसीलिए कि:—

'हम नीलाम पर चढ चुके है?'

जब रसवंती बोल उठे

वे कहते हैं कि तुम मुझमें लगनेवाली गाँठ हो; किन्तु, मैं देखता हूँ कि तुम तो मेरी लज्जा रखनेवाली वह चादर हो कि जिसमें गाँठें लगाई भी जा सकती हैं और उन्हें खोला भी जा सकता है। तुम चादर हो जिसे ऊँचा उठाकर मैं एकान्त में स्वरूप-दर्शन करता हूँ और जिसे सुन्दरता से लपेट कर सूरज की सौ-सौ किरणों में सर्वरूप दर्शन करता हूँ।

तुम्हारी मिठास का एक ऐसा अटूट कोष है; जो अनन्त प्रयत्नों के बाद भी आँखों पर ऐसा झूलता-सा, हृदय पर ऐसा लटकता-सा रह जाता है कि तुमसे परे किसी स्वाभाविक, किसी महान्, किसी निर्माता, किसी विस्तृत, किसी रक्षक, किसी करुणाघन, किसी दयासागर की कल्पना कठोर और बोझीली मालूम होती है! उस समय तो मेरी तुलना उस शक्कर से बने हुए हंस के खिलौने-सी होती है, जिसकी मिठास से जिसका आकार जुदा नहीं किया जा सकता।

* * * *

जब मुझे औरों से झिझक मालूम होती है तब मैं तुम्हें अपने से कई गुना लपेटकर अपने को आसक्तों से छिपा लेता हूँ। किन्तु; जब मैं तुम पर समर्पित होता हूँ तब सिसक और मुसक के ताने-बाने से बनी तुम्हारे स्वरूप की झीनी चादर पहनकर अपनी ही माप के अपने आराध्य के आईने के सामने खड़ा हो जाता हूँ। लोग पूछते हैं, मेरी वाणी कुछ बोलती क्यों नहीं है। किन्तु; उस समय वह बोलों से रूठा करती है और बोल उसके आँख-मिचौनी खेला करते हैं।

जब मेरा प्यार नन्हें बालक की तरह खारी पुतलियों की मीठी गोद पर

उतर उतरकर चढ़ा करता है तब काल के अनन्त पर्दे, उठ-उठकर मेरे संकेत का स्वरूप-दर्शन किया करते हैं। पाँच महीने और पचपन बरस, इन दो कठोर अन्तरों को रखकर भी छोटा-सा खिलौना, नन्हा-सा बच्चा समय की बड़ी-सी गठरी की गोद में खेल सकता है और उसे माँ कहकर, उससे अलग उत्पन्न होकर भी उसकी गोद से, उसके हृदय तक अस्तित्व की एक सीधी रेखा खींच सकता है, तब मेरे पथ में रुकावट कैसे खड़ी हो सकती है।

* * * *

तुम्हें रश्क़ होता होगा, अनजान बटोही ! कि कितने सनेह से सना होगा मेरा मार्ग ! पर तुम क्या जानो कि मैने पाकर कुछ नहीं पाया, खोकर पाना ही मेरे मिठास का इतिहास है। यह सोने की धूल बिखेर कर और रूपे-सा अमृत चाँद के कटोरे में भरकर तुम किसका स्वागत करने आ रहे हो ? अन्तर के वैभव के सम्मुख यह सारी देन भिखारिन है। अन्तर के प्रकाश पर सूरज और चाँद दोनों ही दो काले धब्बे हैं ! मुझे तो संकेत वहाँ बुलाया करता है जहाँ प्रकृति का बावलापन कहता है, यहाँ मत आ। मेरे पथ का द्वार नहीं होता और यदि होता हो तो वह बन्द ही होता होगा ! मेरे सम्मुख आनेवाली रुकावट ही मेरी सावधानी है और उससे टकराकर मेरे मस्तक पर आये हुए घाव ही वह वेदना देते हैं जिससे उत्पन्न होनेवाली उसासों को एकत्र कर, मैं भावों के ग़रीबख़ाने का इतिहास बनाया करता हूँ। मेरा प्रियतम आसमान के नक्षत्रों में छिपकर नहीं बैठता, वह योगियों के मनो-मन्दिरों का भी मुतलाशी नहीं। वह तो यहीं रहता है। इधर से आता-सा और उधर से रूठकर जाता-सा। मैं उसे प्रतिक्षण अनुभव करती हूँ। मेरा दिलदार क्षितिज के परे ही नहीं किन्तु वह उम्र के परे भी निवास करता है।

उसे नन्हा देखकर, उसकी तोतली बोली सुनकर और उसे घुटनों के बल आँगन में जानकर सूर को दीखने लगता है और तुलसी वृक्ष से मनुष्य बन जाता है।

*　　　*　　　*　　　*

किन्तु, आज तो मैं तुम्हारे दरवाज़े आया हूँ। अनहोने से तुम, ज़रा होने-से बनकर बैठ जाओ। युक्ति के खम्भों से सजी और विनोद के तिनकों से लदी तुम्हारी झोंपड़ी में, मैं चाहता हूँ, आज तुम हो और तुम्हारे सिवा और कोई न हो। मैं सहृदय युग की बुद्धि की जीभ बनकर तुम्हारी कृतियों की मिठास का स्वाद लेने आया हूँ। बोल दो, एक बार बोल दो। यह तो समय का काम होगा कि वह उसे अनन्त-युगों तक देख ले और जीवित साँसों का काम होगा कि वे उसे दुहरा लें। बिना पैरोंवाली अपनी उस बोली को, ज़रा नगाधिराज के मस्तक पर चढ़ने दो और उद्दण्ड आनन्द खोजियों को आमंत्रित करो, कि वे तुम्हारे आँसुओं में बहकर आनेवाली अन्तर्वेदना की मिठास में न डूबने का प्रण करके आवें। वे मर्यादा की क़सम खाकर घर से चलें, और मेरे प्यार! बह उठो एक बार! और जादू से पलटकर 'गिरा अनयन नयन बिनु बानी' का एक संसार बसा दो। जेलख़ानों में बन्द होकर, आलोचनाओं की चहारदीवारियों में क़ैद होकर, नहीं, श्रद्धा के काँटेदार तार तुम्हारे चारों तरफ़ घेरे की तरह लग जाने के पश्चात् भी, ज़रा दशरथ बन जाओ, राम के पिता! और, अपनी बन्धनमुक्त कल्पनाओं के रथों से भावनालोक की दशों दिशाओं का कोना-कोना खूँद डालो। वह रथ ऐसा हो, ऐसा ज़रूर हो, कि तुम्हारा युग यदि उसमें बैठकर स्वैर-संचार न कर पाये, तो नित्य बढ़ते जानेवाले चन्द्र की तरह वह उस दिशा में बढ़ता

अवश्य चला आवे। चिल्ला पड़ने दो कुछ को, कि तुम्हारी वाणी उद्दण्ड है, परम स्वतन्त्र है; वह रूढ़ नहीं है। तुम अपने द्वारा निर्मित ज़माने की आह को भी अपने मन्दिर पर चढ़ने की सीढ़ी बना लो, और वाह को भी; प्रहार को भी, उपहार को भी। उम्र के बरसों से कह दो, कि तुम इतने नन्हें हो कि तुम्हारा अपमान नहीं हो सकता। किन्तु, एक बात और कह दो—ज़माने के तुम निर्माता हो, तुम ही निर्माता हो।

*　　　*　　　*　　　*

तुम्हें पता रहे कि बोली ज़बान के घाट आकर कुछ और होती है और क़लम के घाट कुछ और। ज़बान की पनिहारिन, दिग्विजय की वायु-तरङ्गों पर चढ़कर, बन्धनरहित रूप से दौड़नेवाली ध्वनि है। उसमें सौ ख़ून माफ़ हैं। किन्तु वह अभी-अभी है, और अभी नहीं है। किन्तु, सूझ के कँटीले पौधे में से जब कलियाँ चटख़कर क़लम पर आया करती हैं: तब वे कितनी ही बार क़लम होकर ही आया करती हैं। प्रतिभा की नव-वधू, स्याही से सास जैसा और क़ाग़ज से ससुर जैसा भय मानकर पद-निक्षेप किया करती है, किन्तु वाणी की स्वछन्दता में जितना कठोर मरण है, स्याही और काग़ज़ के भय में अनन्तकाल को बेध सकनेवाली उतनी ही महान् अमरता है। वे धन्य हैं जिनकी बोली, हवा पर से भी, अमर रहने को काग़ज़ों पर उतर आती है। *किन्तु ज़बान की स्वच्छन्दता पतन का ठीका नहीं है। ज़बान से उतरना ही वह चाहिए, जिसे यदि युग काग़ज़ पर उतार दे, तो वह अमर हो उठे।*

*　　　*　　　*　　　*

खुले हृदय के स्नेहियों के आकर्षण का संकेत ही ऐसा होता है कि जिससे हम आँखें रखकर भी सूरदास बन जाया करते हैं और हृदय का

खज़ाना लुटाने उठ पड़ते हैं। यह सोचकर कि हमारी ईमानदारी से गुज़रकर आनेवाले पागलपन को, हमारी ही तरह, हमारा श्रोता भी भूल जायेगा। भाई मेरे, चाहे बावलों की कमी से हों, चाहे क्रूरों की अधिकता से—ऐसी दुनियाँ बड़ी नही हुआ करती।

इस दुनियाँ में तो आधार ही होता है, विस्तार नही। यहाँ साँसे ही गिनी जाती है, मनुष्य नही।

उन्हें भोजन में आनन्द है; वे मनुष्यभक्षी तुम्हें भी खा जायेंगे; पर तुम्हारा तो भोजन ही आनन्द है।

उल्लास और उसास तुम्हारे आनन्द की ऊँची और नीची तहों के नाम है। तुम्हारी दुनियाँ छोटी है क्योंकि ज्ञान के काँटों पर लोगों से उन्माद के पुष्पों का बोझ नहीं सँभलता। "गँवार"—लोगों की ज़बान पर साधारण शब्द है। किन्तु, सच तो यह है कि हम गँवार होना ही भूल गये।

हम तो तभी तक हम है, जब तक हमारी गँवारी, हमारा बचपन अपनी करारी तरुणाई पर हमारे पास रह सके। प्रतिभा का पौधा, इस नन्दन को खोकर, कहाँ रहेगा? कल्पनाओं का खज़ाना अपनी बन्धनमुक्ति के लिए कौन-सा स्थान ढूँढ़ेगा? *परन्तु, इस दुनियाँ का, तुम अपने को पता दो, अपनों ही को पता दो। मंचों पर, रंगमंचों पर, इस जगत् को मत खीचो।*

वेदियों पर तुम स्नेह की स्वाभाविक सतह को मत हिलाओ-डुलाओ; वहाँ तो तुम मर्यादा के बन्दीख़ाने का ही द्वार खोलो। उस समय तुम्हारे स्नेह, तुम्हारे बचपन, तुम्हारे अज्ञान और तुम्हारे युग के अटपटेपन को नाम रख-रखकर और तुम्हारे मस्ताने बोलों को भूलने और मिटाने का बधिक-व्यापार बलपूर्वक चलाने के पश्चात् भी, युग का शृंगार सजाने-

वाली, युग के सिपहसालार की ज़रूरत पूरी करनेवाली, तुम्हारी कृति की अनन्तराशि उनकी स्मृति के द्वार पर पड़ी रह जानी चाहिए।

वे तो मज़दूर हैं। उनकी कठोरता की चलनी से छाने जाने के पश्चात्, सौदे में समय देनेवाले, तब ख़ुश होना चाहते हैं, जब उनकी बुद्धि के पल्ले, उनकी जायज़ मज़दूरी से अधिक का माल पड़ जाये; और वह माल भी अत्युच्च, देवताओं का प्रसाद न हो; उनको रुचने और हज़म होनेवाली वस्तुएँ होनी चाहिए! तुम्हारे विनोद में, तुम्हारे आँसुओं में तुम्हारे मरण में भी वे सौदागर ही रहे हैं, सौदागर ही रहेंगे।

*   *   *   *

तुम्हारा हृदय-रस कभी पराजित न हो, किसी की 'आह' और 'वाह' पर उसे सूखने देना तुम्हें स्वीकृत न हो। किन्तु, उसमें वह सरलाई ज़रूर चाहिए, जिससे भोले से भोले भाव तुम्हारी कहन को अपने हृदय की गाँठ में बाँध लें, और एकान्त की याद की रगड़ खाकर, जब तुम्हारी कहन उनके जी में धुलने लगे, तब उसमें सनेह और साहस का ज्वार आ जाये। करारी विजय वह होगी, जब भूलने का उदार सौदा करनेवाले राहगीरों में, तुम्हारी कहन, ऐसी मतवाली, ऐसी भारी तादाद में, मस्तानगी के साथ रह जाये कि अपने अस्तित्व के वर्षों में वे उससे जुदा न हो सकें, और पीढ़ियों को तुम्हारी कहन का खज़ाना सौंपने में अपने को गरबीला अनुभव करें। यही तुम्हारा क़र्ज़ होगा; जिसे यदि, तुम्हारे युग की पीढ़ियाँ—तुम्हारी ही पीढ़ियाँ हुईं तो,—सरस्वती के मन्दिर में अपने अस्तित्व के बूते, उसे चुकाने का त्यौहार मनाने आवेंगी।

*   *   *   *

नभोमण्डल पर, ज़रूरत नहीं, कि तुम नक्षत्रों की तरह बँधी घड़ियों और बँधे दिनों में आओ, और तारुण्य में जन्मते ही, तुम्हारा विज्ञापन हो। तुम सर्वनाश के नहीं, सर्वप्राण के भूकम्प बनकर क्यों न आओ? पेज गिनने वाले प्रकाशक की पुस्तक के पन्ने बनकर आने के बजाय, तुम अपने ज़माने की उथल-पुथल के सन्देश-वाहक बनकर क्यों न आओ? उन्मेष बनकर आओ; इतिहास बनकर लौट जाओ। तुम्हारा स्वागत करनेवाले बरस, अचम्भा करें; कि तुम विश्व में किस द्वार से आये; और किस जीने पर चढ़कर लौट गये।

*　　　*　　　*　　　*

तरुणाई और कविता ये दो वस्तुएँ नही, किन्तु एक ही वस्तु के दो नाम है।

तरुणाई प्रतिभा की जननी की गोद है। उम्र के उतार में प्रतिभा तरुण रह सकती है और अमर अनहोनेपन के साथ बढ़ती जा सकती है किन्तु उम्र के द्वारा जीवन के कील-काँटे ढीले होना शुरू होने के बाद, प्रतिभा अपने जन्म का प्रथम दिन मनाने नहीं आती अतः तरुणाई को गिरफ़्तार करो और उसमें अपने जीवन-कणों को ज़ोर से बो दो। चढ़ती हुई जवानी के हृदय और बुद्धि के संयुक्त तेज को यदि 'तुम' नही कहते, तब फिर तुम्हारे आगमन का नाम ही क्या है? जी का दीपक जगमगाता रहे?—अरे तो उसमें संकटों का तेल पूरो। इतिहास की आँखों से ज़रा भूतकाल को देख लो; और अपनी आँखों से अपना ज़माना देखो। दरिद्रता, दासता, रोग, संकट, कारागार, विश्वासघात, आक्रमण और अत्याचार इन्ही

गहनों को पहिनकर युग की मस्तानगी आज़ादी, उत्थान और कविता बनकर आती रही।

*　　　*　　　*　　　*

सीमा रखनेवाले मानव, तुम निस्सीम का नाम लेकर उसे कलंकित मत करो। क़लम छुओ उस दिन, जिस दिन उन्मेष से या वेदना से, तुम्हारा रक्त आँसू बनकर और तुम्हारे आँसू रक्त बनकर उतर रहे हों। तुम मत बोलो; बोलने का काम करने वाले, काम का बोलना नहीं बोला करते। तुम मत बोलो—क्योंकि तुम भूतकाल को पत्थर समझकर और भविष्य को महज़ कल्पना मानकर, वर्तमान के ज़हर से ज़हरीले हो। बोलें वह जिनकी केवल जीभ नहीं, केवल आँसू नही, केवल स्मृति नहीं, केवल बुद्धि नही, किन्तु इन सबको साथ लेकर जिनकी बेएख्तियार रसवंती बोल उठे।

*　　　*　　　*　　　*

अरे, लकीरें गिनते हो? घास ने जंगल हरियाला करके भी एक अन्न-कण पृथ्वी को नहीं दिया। युग के आचार्यत्व के दाग़ी, हरियालेपन की भूल-भुलैयाँ में, दिमाग़ी-पशु विचरण किया करते हैं, पीढ़ियाँ विचरण नही करतीं। विधाता की बेएख्तियार फेंकी हुई बखेर का कूड़ा समेटकर, चरागाह हरियाले किये जा सकते हैं; और खारे समुन्दर भरे जा सकते हैं किन्तु, मानवता के मस्तक उनपर नहीं ढुला करते। कवि, सेनानी और सन्त बनाने के लिए तो, अस्तित्व की तलवार पर अपने अन्तर का ही पानी चढ़ाना होता है।

*　　　*　　　*　　　*

फूलों की तरह सूखकर गिर जाने के लिये क्यों जन्मोत्सव मनाये जायँ और क्यों मरण त्यौहार?

मिट्टी में मिल जानेवाले दाने, उपज की होड़-होड़ी का खेल खेला करते हैं और ब्रह्माण्ड में चमकने वाला नक्षत्र अपने आस पास के अनेक नक्षत्रों की गति-विधि का संचालन करता है।

रेवा का कल-कल, कली की चटख, पैजन की रुमझुम, बाँसुरी की तान, मृदंग की धुमक, वीणा की मिठास और गम्भीर बादलों की तरह बिजली के वार के साथ, बादल की प्रलयंकर हुंकार और इसके पश्चात् आँसुओं की तरह बेकार, असहाय, रिमझिम-रिमझिम गिरकर, पुनः अपनी मातृ-भूमि की गोद में गिर पड़ना, यह एक ही कवि के अनेक अवतार हैं।

* * * *

तुम्हारा दिलवर, तुम्हारी कविता, तुम्हारे आँसू, तुम्हारा चुम्बन, उस स्फूर्ति में निवास करता है जो तुम्हें प्राप्त हुई हो और जो तुम्हारे द्वारा प्राप्त हुई हो।

तुम्हारे स्फूर्ति-प्रदाता से बढ़कर भी यदि तुम्हारे पास कोई काव्य, कोई ईश्वर, कोई प्यार, कोई दुलार बाकी रह जाय, तो ईश्वर के लिये, तुम सब कुछ कहला लो, बेचारे कवि शब्द को पनाह दो।

यदि आशिक़ी में तुमसे दीवारें न लाँघी जा सकती हों, और दिलदार के पूजन में पुष्पों की तरह रक्त-बिन्दु न चढ़ाये जा सकते हों तो तुम सब शस्त्रों को छू लो किन्तु, वीणा को हाथ मत लगाओ।

तुम समुन्दर बाँध सकते हो, बटवृक्ष के नीचे महाबोधि बनकर समाधि ले सकते हो, क्रास पर टँग सकते हो, पर भाई मेरे, तुम नन्द-नन्दन नहीं कहला सकते। लोग महत्ता लेकर नन्द-नन्दन मापने आते हैं, तुम्हारा तो माप ही नन्द-नन्दन है। भूख का भान और भीख की भाषा रखकर न कवियों का

दिलदार कहीं आया करता है; न कवि कही जाया करते हैं। हाँ भूखों की वेदना जिस दिन उनके हृदय से चढ़कर आँखों पर आती और आँखों से भुजा पर उतरती है उस दिन वह ज्वाला, एक ऐसा भूकम्प करती है जो बड़ी और छोटी, क़ीमती और बेक़ीमती महत्ता को धूल में मिला देती है, और, सोने और चाँदी के खादवाली उस ज़मीन पर वह मस्तानी तरुणाई युद्धक्षेत्र और हवाई जहाज़ 'बोया' करती है।

किन्तु, न वह राजनीति होती है न अर्थ-शास्त्र। उसका तो अपनी ही लहर-बहर का सौदा है। जिसकी वेदना में भी मिठास आती है उसके प्रलय की मिठास भी निराली होती है।

उसकी वीणा के तारों में वह, तारे पिरोकर मिजराब मारता रहता है, क्योंकि कुछ बेचैन-सा; कुछ बावला-सा, कुछ पत्थर-सा, कुछ उतावला-सा; कुछ खुली आँखों अनदेखा-सा, कुछ मुँदी आँखों से देखता-सा; कुछ त्यौहारों पर रोता-सा, कुछ मक़तलों में मुस्कराता-सा; अपनी क़लम के काले आँसू, सूरज की किरणों को सँवारने के लिये वह टपकाता ही उस दिन है, जिस दिन उसकी रसवंती बोल उठती है।

* * *

वसुधा का पालतू काव्य

मौसम में उत्पन्न होनेवाले वृक्षों, फलों और जीवधारियों की तरह मौसम में उत्पन्न होनेवाली कला त्रिकालबाधित या अमर नही होती; वह क्षणजीवी होती है। मौसम बदला नहीं, कि वस्तु मरी नहीं।

कला कभी बहुत ऊँची हो जाती है, वहाँ वह वृक्षों की फुनगियों से पिरामिडों और वहाँ से पक्षियों और वायुयानों से बातें करती हुई नक्षत्रों तक पहुँचती है। कहीं कला बहुत गतिमान, दौड़नेवाली होती है; वह अपने प्रकटीकरण के विस्तार में, नदियों और पहाड़ों को लाँघकर पहुँचती हुई बड़े-बड़े समुद्रों को लाँघकर समझ सकने, या समझ रखने के अन्तिम कोण तक पहुँचती है। कही कला अत्यन्त गहरी होती है—वह मणिधरों की तरह, गहरी से गहरी अँधेरी गम्भीरता में उतरकर अपनी पहुँच का प्रकाश, ज़मीन पर डोलते हुये मानव के पास तक पहुँचाती है। कहीं कला, कोमल भाव व रंगों के जल की गहराई में उतरते-उतरते कठोर रत्नों को खोजने में सफल होती है, जो रत्न युग के घनों से नहीं तोड़े जा सकते। किन्तु इस ऊँचाई, इस गति, इस गाम्भीर्य और इस गहराई के अत्यन्ताभाव में भी, प्राणवान कला का निवास है। 'अ' को अक्षरब्रह्म कहा है, और काल तथा कला में केवल 'अ' कार मात्र अपना स्थान बदल लेता है। कला तो समझ के काल का माप है।

चूसना, हज़म करना, साँस लेना, देखना, सुनना, चिल्लाना, बदन को सिकोड़ना, बदन फैलाना, रग-रग में रक्त पहुँचाना,—ये बातें, मानव को किसी स्कूल में, किसी शिक्षक के द्वारा नहीं सिखानी पड़ती। कहते हैं, यह

बातें मनुष्य, स्वभावजन्य करता है। तब कम से कम हमारे कथन, हमारी वाणी, हमारे साहित्य में तो रस, ग्रहण शक्ति, जीवन या ताज़गी, दृष्टि-कोण या अप्रत्यक्ष तक देखने की शक्ति, विश्व के हृदयों, कार्यों और घटनाओं की तथा अंतरतम की ध्वनि, विश्व की और परिस्थिति की कराह या चीत्कार, ज़रूरत पर विस्तृत हो जाने और परिस्थिति में सिकुड़ जाने की शक्ति, पहुँच के विस्तार में भौगोलिक और मानव-धारणा के बन्धन लाँघ जाने का बल और माला बनाते समय फूलों के कलेजे में से जानेवाले डोरे की तरह वस्तु-वस्तु में व्याप्त हो जाना, यह गुण तो हमारी रचना में 'इन्स्टिंक्ट' से—स्वभावजन्य—आने चाहिये।

नोचना, चाटना, दुम हिलाना, रोना, कराहना, छींकना, आदि नौ से अधिक होनेवाली क्रियाएँ भी हम अपने आप ही करते हैं, किन्तु इन पर जीवन-यापन करना, साहित्यिक का, अपने पूर्व-पुरुष, पशुओं की विरासत क़ायम रखना ही कहा जायगा।

जब से झाड़ों पर चढ़ने की आदत छूटी, तब से हमारी कल्पना ने हरी-हरी सफल डालियों पर लम्बी छलाँग मारना भी छोड़ दिया। अब हम बनी हुई सड़क पर आराम से चलते हैं। लीक-लीक! सुपुत्र जो ठहरे!

हाथी और घोड़े झाड़ों पर नहीं चढ़ते, किन्तु हम प्रयत्न से चढ़ सकते हैं! यानी हममें 'स्व-भाव' तो है किन्तु छलाँगें मारने का अभ्यास भर छूट गया है। स्वभाव के परे अभ्यास को पहुँचाकर हम प्रयत्न-जन्मा नहीं हो सकते?

दुनिया की वैभव-बखेर में पशु-पक्षी पेट के बल रेंगनेवाले और कीड़े-मकोड़े सब चलते हैं। क्या हम इसी तरह ज़िन्दगी बिता देंगे? क्या हम

परिस्थितियों को ख़ुद उत्पन्न कर उन पर जीनेवाले 'मानव' 'नहीं' हो सकते? फिर हमारी क़लम से तो वर्षा-पतित, भूमि-दूषित जल ही निकलेगा —चाहे किसी रूप में निकले। उसमें से रक्त, और जीवन-रस क्यों टपकने लगा?

पशु गर्मी, सर्दी और वर्षा—लाचारी से सहता है; किन्तु मानव अपने जीवन के तापमान का नियमन करता है। वर्षा, शरद् और ग्रीष्म में वह अपने शरीर और रहन-सहन में स्वयं तापमान का नियन्त्रण और निर्माण करता है। तब बुद्धि और जीवन के जगत् में तापमान निर्माण न कर सकने-वाले यदि पशु-जीवन न बितावें तो और कौन-सा जीवन उनके लिये शेष है? तापमान निर्माण करने के पथ में, मानव ने पहले आगी ढूँढ़ी। प्रकृति के अनुकूल, अपना मौलिक तापमान ढूँढ़ने के लिये, मानव ने आग बनाई। शरीर की गर्मी ही ने उसे सिखाया होगा। क्या हम भी साहित्य को मौलिक, अमर, दीर्घजीवी बनाने के लिए, अपने अन्दर और बाहर के तन्तुओं की रगड़ से आग बना सकते हैं? बुझे जीवन को तो अस्तित्ववान मरण ही कहना पड़ेगा।

मनोभावना के चढ़ाव-उतार की मौलिकता को सबसे बड़ी हानि पहुँ-चाई हमारे चढ़ाव-उतार रहित जीवन की नास्तिक सुविधा ने। कठिनाइयाँ उपजाकर, उनसे विविध बाजुओं से खेलकर, न जाने हममें कौन-सी शक्ति, कौन-सी प्रेरकता, कौन-सा आविष्कार जागता! किन्तु खा, पी और मौज से रहने की पतित मनोवृत्ति ने, विचारों की क्रियाशीलता को जन्म देने के बजाय विचारों की ऐयाशी को जन्म दिया। विचारों के प्रगटीकरण में हम कितने चौकन्ना कि समाज, साहित्य, धर्म, तत्त्व, राजनीति—किसी क्षेत्र में संकट खड़े करना ही नहीं चाहते। परिणामतः हम, आये हुए संकटों के प्रारम्भिक

प्रहारों ही में प्राण दे बैठते हैं। सुविधा और आनन्द के मानी, मौलिक भाषा में हुए ऐयाशी और नास्तिकता।

आगी से दियासलाई, फिर दिये या मोमबत्तियाँ, फिर गैस, फिर बिजली—हमारी आविष्कृत मूल अग्नि के शोध पर, कैसे कठोर अग्नि-संस्कार। परिणामतः भोजन, भजन, भागना, मरना, मारना, सब कुछ मशीनों से होने लगा। हृदयवान मानव के नाश को, विकाश कहा जाने लगा।

थरथराते हुए, यदि कहीं दूर जंगल में आग सुलगती दीखी। वह लाल पीला-सा प्रकाश। और बिना रास्ते की प्रतीक्षा किये चल पड़ा मानव उसी ओर। उसने लम्बाई से मुड़ना, ऊँचाई से चढ़ना जाना, जब राह में नदी या पहाड़ मिल गया। फिर साँप, शेर, कांटे, खंदक—सब तो पुरुष के पथ में—जिसमें पुरुषार्थ निकला। उस दूर दीखनेवाली आग में, फिर उस बीहड़ मार्ग में, फिर शीत की आधी रात के समय, एक किरात-वृद्धा की झोपड़ी के आँगन में हाथ सेंकने के लिए अंगारों के मिलने में —एक-एक में कितना काव्य। पनचक्कियों में, गैस के चूल्हों में और बिजली के वाहनों के नीचे—हमारा काव्य न जाने क्या हो गया। अब हम कविता—पंक्ति में यदि तलवार का नाम लाते हैं, तो हमारे मरे और सुकोमल हाथ, हिलती कमर, और घुँघराले लटकते बाल मानों हमसे आगे कहने दौड़ते हैं—

"डरना मत मुए, यह तसवीर की तलवार है।"

हम डिक्शनरी का पहाड़, नक़्शे की नदी, और चल-चित्रों के पर्दे, अपनी रचनाओं में लिखते-लिखते, यहाँ तक पहुँचे कि भावों की रगड़ से भावों के टुकड़े चुराने और औरों के भाव कुशलता से परोसने ही को अपनी प्रतिभा कहने लगे।

हमने अपने जीवन का अधिक भाग ना-काफ़ी महत्त्व की चीज़ समझ कर बिता दिया। और चिन्ता और सुध आई तो शक्ति और साँसें ना-काफ़ी रह गई थीं।

प्रतिभा-हीनता में हम अपनी योग्यता की कमी अपने आतंक द्वारा पूरी करते नज़र आते हैं। उस समय जो थोड़े शब्द बोलते हैं, वे भी हमारे अपने नहीं होते, अतः उन्हें रहस्यमय, दो अर्थों या अनेक अर्थोंवाला बोलने लगते हैं।

हमने मछली, कछुए, शूकर—न जाने किस-किस में, अपने प्रभु की कल्पना की। किन्तु हम भूल ही गये कि ये हमारी पहुँच के अवतार हैं—जल, थल और न जाने कहाँ-कहाँ के वज्र-गामी। किन्तु हम तो रेल के डब्बे में, दाई द्वारा पैदा कराये गये हैं। किसान की-सी विस्तृत, मल्लाह की-सी गम्भीर, वायुयानी की-सी ऊँची नज़र हममें आने कहाँ से? तिसपर भी हम हैं साहित्य के आचार्य ही।

यही क्यों, विश्व की कठिनाइयों में रहकर, पुरुषार्थ को शरीर पर उतारने का उदाहरण रखनेवाले पशु-पक्षियों आदि को भी हमने मानवत्व प्रदान किया। उन्हें पालतू बना डाला। वे इस बात के उदाहरण हैं कि पालतू साहित्य कैसा होता है। तोते सीताराम बोलें—पर पिंजड़े के खुले द्वार से उड़ने की शक्ति ही नहीं। मछली कुँए में आकर तैर-तार भले ही ले, किन्तु मालिक ने जब चाहा पकड़ कर मार ली, या कुँए का पानी सूखा, और बस ख़तम वह मीलों पानी की दौड़। बैल हो या गाय, शाम को खूँटा ढूँढ़ता चला आये। घोड़ा अपने पर पड़नेवाला कोड़ा मुँह में लेकर, प्रहारक सरकस वाले के आस-

पास नाचे। हाथी, रोट का मुहताज और अंकुश से बे-क़ाबू। यह वसुधा का पालतू काव्य है, जिसकी रचना मानव ने की है। तब उसकी दिमाग़ी कृति के विषय में अधिक क्या कहा जाय। उसे एक ही विशेषण काफ़ी है—वह "पालतू" चीज़ें लिखता है। तब कला की दुनिया में पर्वतों से कौन टकरावे, नदियों का प्रवाह किससे थमे, और नक्षत्रों से कौन कानाफूसी करे ?

असहाय नाश या अमर निर्माण

यदि तुम्हारी बहक मौजी मन की तरंग होती, तो तुम माफ़ किये जा सकते थे। हानि-रहित और आनन्दोत्पादक उथल-पुथल को ही तो विनोद कहेंगे। किन्तु जहाँ घूमता हुआ पशु नहीं घबड़ाता, ऐसे सुनसान में मानव घबड़ा उठता है!

विचारों के आवाहन के एकान्त में हम किससे घबड़ाते हैं? क्या अपने आप से? नहीं तो किससे? फिर जो भय रात में है, वह दिन में नहीं? और यह हमारा शोक, वर्षानुवर्ष शोकसभाएँ और श्राद्ध करना? इसके बाद, वह मानव का मानव के द्वारा संगठित नाश; और प्रभु की इच्छा पर, इस नाश की सहमति का आरोप। ये सब बातें कह रही हैं कि इन वस्तुओं की दूसरी बाज़ू है। वह यह कि हमारे हाथ में रहनेवाली क़लम पर जो उतरता है, वह इसी घबड़ाहट, इसी शोक, और इसी रक्त-पिपासा के समर्थन में निकलता रहता है। भय की कमी, हमें हर्षित करती है और उसका अभाव हमें सुखी। शोक से बाहर निकल आना हमें हर्षित करता है और कभी भी शोक न होना ही हमें सुखी। '.खून बहाने योग्य' का .खून बहाना हमें हर्षित करता है और उसका कभी भी सिर न उठा सकना हमें सुखी।

किन्तु परिणाम के सुख ने हममें जो कायरता बोई उसी ने हमें घबड़ाता हुआ, भयाकुल, शोक-पूर्ण और .खूनी बना दिया। यह हुई एक बाज़ू।

यह काव्य चाहे दैवी न होकर राक्षसी हो, किन्तु कुछ तो है।

मंज़िल न हो, किन्तु मील का पत्थर तो है। जिनकी क़लम पर यह उतरता है, उनकी क़लम पर कुछ तो उतरता है। 'मानव, 'अपने मन का'-सा कुछ तो ऐसी रचना में पाता है। किन्तु अब हमारा विकास देखो कि विश्व की गुत्थियाँ न सुलझा कर, हम "क्रासवर्ड पज़ल" का-सा साहित्य लिखने लगे।

यदि पर्वतों से टकराने से मानव घबड़ाये, नदियों का प्रवाह रोकने में लगने वाली चोटों से उसे शोक हो, और नक्षत्रों की ओर अपने से ऊँचे उठनेवाले का वह स्पर्धा में ख़ून पीने दौड़े, तो फिर क़लम किसके हाथ में दी जावे?

और क़लम हाथ में लिये बग़ैर काम तो चलेगा नहीं। जगत् में मानव चाहे पशु की तरह उपजाये गये हों, किन्तु नई वस्तुएँ निर्माण कर मानवों ने विधि के विधान को अपने हाथ में लिया और उसमें विषमता उत्पन्न कर दी। हम मीठा-कड़वा ही नहीं, उपयोगी-निरुपयोगी समझने-समझाने लगे। ज़मीन से सीता हुई या नहीं हुई, किन्तु वाल्मीकि की क़लम से जो सीता पैदा हुई, उसने समूची जाति में घर-घर, कम या अधिक प्रमाण में, उत्पन्न होना आरम्भ कर दिया।

हमने रथ लिखा था कि मोटरें, रेलें आगईं; नाव लिखी थी, कि जहाज़ चल पड़े, और पंछियों को देखकर पतंग उड़ाये थे कि हवाई जहाज़ सर पर मँडराने लगे।

जब हम जीवधारी थे, तब हमें चाहे विधाता के विश्व ने बनाया हो, किन्तु मानव होकर अपनी क़लम से, हमने विधाता का विश्व बनाना शुरू किया। अब या तो हम, विश्व के उचित स्रष्टा, उचित विधाता, उचित निर्माता बनें, या फिर विश्व का बोझ न उठा सकनेवाले कमज़ोर ब्रह्म होकर,

विश्व को फिर जीवधारियों का विश्व हो जाने दें; प्रतिभा की सतह पर उसका नाश कर दें।

आज के क़लम बन्द! बोलो तुम्हारा नाम क्या है? असहाय नाश या अमर निर्माण। मानों कि अब तुम्हारी मर्ज़ी पर कुछ नहीं छोड़ा जा सकता। तुम निरंकुश रह सकते हो, निरंकुश बर्दाश्त किये जा सकते हो, निरंकुश जीने दिये जा सकते हो, प्रतिभा की अपरिमित दौड़ की दिशा में; प्रतिभा के अभाव की ओर नहीं।

हर माता, माता है, यदि वह जननी है। और यदि जननी है तो प्रेम के अतिरेक और मातृत्व के दावे के बीचोंबीच प्रसव की वेदना और संगोपन का कारागार निश्चित है।

यदि साहित्य के तुम जनक हो, तो बोलो, अपने गर्भ से जापानी खिलौने जनोगे, अथवा अमर मानव का प्रखर अस्तित्व?

प्रारम्भ का प्रसव, मानवता का प्रथम संस्कार तो तुम्हें नहीं लिखना। जिस तरह, हर त्यौहार पर जातीय संस्कारों और युग की मानव धारणाओं के तह जम जाते हैं, और वह सहस्रों अर्थभरे हो उठते हैं, उसी तरह क़लम के पथ में अनंत युगों के दशरथ ने, दशों दिशाओं के द्वार खोल रखे हैं।

मगन-विहारी! अब तो तुम्हें गगन-विहारी भर हो जाना है।

जीवधारी मानव उठा था, और उसने आग और झाड़ ढूँढ़े थे। वह पाँव के बल चलता था। जैसा कि विनोबा कहते हैं—चरखा, चक्की और चूल्हा, प्रारम्भिक मानवता की मानव को दी हुई विरासत है। किन्तु एक दिन, पाँव के साथ, मानव का सिर या दिल, या दोनों, चले।

सौ-सौ बरसों के सहस्र-सहस्र तहों में से झाँक कर देखो, सिर

के विचारों की एक सुनहली जंज़ीर सी लटक रही है, जिसका नाम तुम्हारी सृष्टि, तुम्हारा निर्माण, साहित्य, कहा जाता है।

उस दिन बाहर झाँकते-झाँकते, हमने भीतर झाँका था। साँस से गुज़र कर डरते-डरते हम दिल में गये थे। और एक गाँठ खोल दी थी। उसी दिन से हमें खुली आँखों दीखते-दीखते, मुँदी आँखों भी दिखने लगा।

उस दिन, साँस में से गुज़रने के लिये, हमारे मन में "क्यों" का उदय हुआ था, और साँस से लौटते समय, हम अपने साथ "इसलिये" लाये। यह हमारी, क़लम बन्दों की आग थी। ये हमारे चूल्हे और चक्की थे। माना कि हमारे "क्यों" ने वक़्त और बेवक़्त नहीं देखा; और हमारा "इसलिये" प्राण के नाम पर सर्वनाश और प्रलय भी लाया।

मानव पुनर्जन्म माने या न माने, किन्तु साहित्य तो पुनर्जन्मा रहा और फिर रहा। किन्तु प्राण के नाम पर नाश लाना भी, प्राण ही लाना था। यह दिमाग़ी जूते बनाने वालों ने नहीं जाना हो; किन्तु प्रतिभा ने जाना। क्योंकि विष की शोध करने वालों को गाली देने वालों ही ने फिर विष के अमृत की तरह उपयोग के शोध किये।

ठीक भी है, कोलम्बस की यात्रा ही में मौलिकता थी, उसके अमेरिका मिलने में नहीं। यदि अमरीका न मिलता तब भी कोलम्बस के अमर हृदय पर, सहस्र-सहस्र अमेरिकाएँ न्यौछावर थीं। इसी तरह "क्यों" लेकर जाने और "इसलिये" लेकर लौटने के प्रतिभा-जगत् में, गति ही प्रभु है, और प्राप्ति तो आज का पुत्र, कल का देवता, और परसों का मील का पत्थर ही बनने वाला है।

इसी प्रतिभा ने, जीवधारियों के भले या बुरे जगत् से हमें छीन लिया। हम कारण और उपाय के दीवाने हुए। और उस दिन हमने अपनी धारणा बनाई। लोगों ने कहा, जहाँ रवि नहीं जाता, वहाँ कवि जाता है। किन्तु हमने वहाँ, जातियों को जन्म दिया।

जो धारणाओं के ग़ुलाम बने, उन्होंने मज़हब बनाया। जो धारणाओं के शीश पर चढ़, शोध में आगे बढ़े, उन्होंने कला का निर्माण किया। धर्म बोला, मैं चिन्तन हूँ, कला बोली, मैं कल्पना हूँ। और आदम और हौवा की तरह दोनों देखने लगे—दूर तक क्या है? यदि अच्छा है तो चले चलो। और यदि बुरा है, संकट, भय है, असाध्य है तो उपाय क्या है?

पुरुष ने कहा, 'ठहरो'; प्रकृति ने कहा 'चलो'। पुरुष मकान बनाने लगा, प्रकृति उसे सजाने के लिये भोजन, भजन, और गति के लिये शृंगार की "खोज" में लग गई। परिणामतः जहाँ तक कला जाती—धर्म को भी वहाँ तक जाना पड़ता।

भाई मेरे, क्या आज ही जूड़ा डाल दोगे? यदि न डालोगे तो, वज्र-गति, वज्र-जन्मा, वज्र-व्यापी, वज्र-मर्दन बूँदें क्या तुम्हारी क़लम से नहीं उतरेंगी? मुहम्मद को इलहाम हुआ था, ऋषियों ने प्रकाश देखा था—आओ, आज तो पथ-दर्शन तुम्हें ही करना होगा—जन्म के, जीवन के, उभार के, उपहास के, रुचि के, अरुचि के, मोद के, मरण के मूल्य पर।

सन्देश-वाहक

तुम कौन हो ?

क्या तुम ज्योतिषी हो ? तुमने आनेवाले ज़माने के बहुत पहले, जो कह दिया, उसे हमने ज्यों-ज्यों समय का चक्का घूमता गया, सच होते पाया। हमने ज्योतिष के पारंगत तुम्हें कभी नहीं सुना, फिर तुम, ऐ वक्ता! भविष्य कैसे कह देते हो ? यदि ज्योतिषी नहीं हो, तो क्या तुम स्वयं ज्योति नहीं हो, जिससे दूर तक का अन्धकारमय ज़माना कटकर, वह सुदूर छुपी हुई अपने हृदय की बात बता देता है ?

अरे, पर तुम केवल भविष्य ही तो नहीं कहते। तुम भूतकाल की बातों को हमें समझाते हो, वर्तमान की उलझनों पर प्रकाश डालते हो और उनकी गाँठों का पता बताते हो, और भविष्य का चित्रण कर, हमें खतरे की चेतावनी देते हो! तब क्या तुम न केवल ज्योतिषी हो, न केवल ज्योति; तुम क्या समय के स्वामी, समय के सर्वस्व हो ?

यह तुम्हारी ही वाणी में विश्व बोल उठा; क्या तुम वह करुण-पुकार हो, जो दुखियों, पराजितों, पराधीनों और पतितों को ज़ोर से पुकार रही है ? यह क्या, सारी क़लमें, काग़ज़ पर, तुम्हारी ही दिशा में चलने लगीं ? क्या तुम वह भुजा हो, जो सारा ज़माने का ज़माना लिखने उठ पड़ती है ? तुम कैसी पुकार, कैसी करुण-पुकार, कैसी धीर-ध्वनि हो, जिसे हम दिल्ली के शाही महलों में, और हिमालय, विन्ध्याचल, अरावली और नीलगिरी के शिखरों और उनकी दरियों में यकसाँ सुनते हैं और सुनते हैं तुम्हारी शीतल धूम को यांगसीक्यांग, गंगा, यूफ्रेटिस, नील, टेम्स और मिससिसिपी की तरल

पर बलशालिनी लहरों में भी। सुनते हैं मन्दिरों, मस्जिदों, गुरुद्वारों, गिरजाओं आदि समस्त देवालयों, और विश्व की उलझन के साधन बाज़ारों और जन-स्थलों में भी। क्या यह तुम्हारी ही वाणी है, जो कलकत्ता में हमें Inferiority Complex से बचाती है और प्रार्थना में विलीन हो जाती है; उस प्रार्थना में जो हमें वह चुनौती देती है जिसमें आशा का ईश्वरीय सन्देश अंकित होता है?

क्या तुम दुखी हो? यदि नहीं तो तुम्हारी आँखों में किस वेदना के आँसू हैं, और तुम्हारे मुँह पर कौन-सी उदासीनता? उस समय जब सूरज तुम्हारी वाणी को अपनी किरणों में गूँथ कर, विश्व को तुम्हारे अपनेपन में नहला रहा है, तब शाही महलों की और शाही महलों की कृपा से चमकनेवाली, बिजली की बत्तियाँ तुम्हारी आँखों को चौंधियाने, तुम्हारी वाणी और तुम्हारे अस्तित्व के आसपास Electric-Wire fence बिजली के तारों की बागड़ रूँधने और तुम्हारी प्रभावित आत्माओं को बिजली के फाँसी के खम्भों से चिपका देने का प्रयत्न क्यों कर रही हैं? सहस्र-किरण के साथ, बिजली की किरणों का यह संग्राम! और इतने कष्टों में भी, तुम्हारा यह मुक्तहास्य—यह बिना दाँतों के मुँह से खिलखिला पड़ना। क्या उस वेदना में, तुम्हारी खिलखिलाहट का ख़ज़ाना भी छिपा हुआ है?

क्या तुम बेचैन हो, क्योंकि तुम मेरा पतन नहीं देख सकते? क्या तुम बेचैनी का बोझ इसलिए सँभाल रहो हो, चूँकि तुम मुझे अपना मानते हो? क्या मेरे प्रति रहनेवाले प्रेम ही ने, तुम्हें कष्टों का वरदान दिया है। पर फिर तुम्हारी यह ललकार कैसी? मैं तो प्रेम में पुचकार और आत्म-समर्पण

का आदी हो गया हूँ, मैं तुम्हारे प्रेम की ललकार का अर्थ कैसे जानूँ? क्या तुम्हारी यह ललकार कोई सन्देश लेकर आई है?—

"तू अपना पथ बदल!

मैं तुझे, और तेरे ज़माने को बदलने के लिए बाध्य करूँगा।"

आह, तुम पर बरसनेवाले निन्दा के अंगारों और दाँव-घात के अन्तर-तम छेद डालनेवाले प्रहारों के बीच भी, युगों में अनन्त सन्देशवाहिनी वाणी को नहीं बदलते?

प्रत्यक्ष के घिनौनेपन के प्रसूनों को, यह किस अप्रत्यक्ष किन्तु आँखों में दीखनेवाले कुंज-वन में ले चले? घातक और द्रोही अन्तरतम को, तुम यह कौन-सी प्रतिज्ञा की याद दिलाने लगे? जीवन की क्रूरता की कंकरियों को प्रेम के रस से भरे अंगूर कैसे बनाने लगे? पतन के लिए प्रस्तुत पुष्प को, पवित्रता की सूजी से छेदकर, यह कौन-सी माला बनाने लगे? बारूद की तबीअत में, मनोवेगों के कणों को भिजोकर ठंढा कर देनेवाला कौन-सा पानी बहाने लगे? राजमुकुटों को न्याय के खूँटों से इस तरह बाँधना, गद्दार हृदय को जिम्मेवारी से नम्र बनाना, पापों की बाढ़ से पश्चात्ताप और आत्म-निवेदन के बल पर बचा ले जाना और अभिमान के गले में नम्रता की वनमाला पहिनाना—यह तुम अपनी वाणी के प्रभाव से कह रहे हो। कैसी अनोखी है तुम्हारी यह वाणी?

तुम्हारी वाणी? वह ज़रूरतमन्दों का विश्वास है, कष्टभोगियों का आराम, बीमारों की सेहत, ग़ुलामों की आज़ादी।

तुम न तो राजा हो, न राजकुमार हो, न धर्माचार्य हो, न लेखक या ग्रन्थकार; न तुम्हारे पास आडम्बर है, न तुम्हें विजय के पदक और पद ही

प्राप्त हैं, न तुमने सम्प्रदाय चला कर चेले ही बनाये हैं,—फिर मनुष्य, केवल मनुष्य के नाते तुम्हारी वाणी में इतना बल क्यों है ?

यह वाणी जब गुनगुना उठती है तब विश्व बावला होकर उसे दुहराने लगता है, बेचैनी से भरी होती है तब विश्व की 'पीर' बन जाती है, जब बहादुरी की आवाज़ बनती है तब भूमण्डल के देशों के नक़्शे बदल देती है, और जब एकान्त में—निकली हुई तलवार के म्यान में रखने की तरह पुनः गुनगुना जाती है, तब पश्चात्ताप, प्रायश्चित्त और आत्म-निवेदन से भरी होती है,—यह किसकी वाणी है ?

तुम्हारी आग से विश्व उजाला है और तुम्हारे पानी से हम पर पानी; किन्तु तुम रोज़गारी तत्त्ववेत्ता या वेदान्ती नहीं हो। क्षिति, जल, नभ, पावक, पवन भले ही विश्व बनाया करें, परन्तु तुम्हें इनसे तभी तक मतलब है, जब तक वे मानव हृदय को उज्ज्वल, उन्नत और सुनहला निर्माण करने के काम आ सकें। तुम कवि हो—विश्व-हृदय के गायक। परन्तु तुम हो बिना इच्छा किये, बिना जाने कवि ! तुम्हारे मन की बलवान् उथल-पुथल, और तुम्हारे स्वप्नों का विश्व बनानेवाला चित्रण जब तुम्हारी वाणी या क़लम के घाट उतरने लगता है, तब मयूर बनकर सरस्वती को अपनी रुचि से उड़ा ले जानेवाले, और रसों से विश्व को छका डालनेवाले रससिद्ध चकित होकर तुम्हारी ओर देखते और कह उठते हैं—

"कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः"।

तुम उपदेशक नहीं हो। न तुमने मन्दिर बनवाये, न कथायें पढ़ीं, न कर्मकाण्ड की क़वायद ही पर अमल किया; पर बावली दुनियाँ तो देखो। तुम्हारी वाणी सुनी नहीं कि कथाएँ बन्द हो गईं। स्मृति के बस्ते बँध गये,

और तुम्हारी एक-एक बात जीवन में उतारी जाने लगीं। तुम राजा नहीं हो, तुम्हारी वाणी कारण बनकर, न लोगों पर शस्त्र चलाती, न लोगों के लिए कारागार बनाती, न लोगों को ज़बर्दस्ती मानने के लिए बाध्य करती; इसके सिवा न तुम्हारे पास सेना है, न ख़ज़ाना। तुम्हारे पास तो अपनी वाणी-मात्र है—फिर उस वाणी को माननेवालों की तादाद बड़े-बड़े अनेक राज्यों से भी अधिक क्यों हैं, और तुम्हारी आज्ञा से शूली पर चढ़ते और कारागार में जानेवालों का इतना बड़ा समूह क्यों? तुम सिपाही भी तो नहीं हो। न तो तुम्हारी ख़ाकी वर्दी है न उस पर कोई तमग़े लगे हैं, न तुम्हारे पास बन्दूक़ है न उसमें भरे जानेवाले कारतूस, न तुमको 'हाल्ट' से खड़ा रहना सिखाया गया न क़वायद पर नाच-कूद मचाना, परन्तु सिपाही की तरह, अपने लक्ष्य पर प्राण देने की तुम्हारी मस्तानी तैयारी किस सैनिक को गरबीला नहीं कर देती।

अहा! राजा, सैनिक, उपदेशक, तत्ववेत्ता, कवि, सिपाही—सब अपने नाम पर बोलते हैं। परन्तु तुम्हारी वाणी? तुम तो अपने शब्दों को प्रभु के नाम पर बोलते हो। जो लिखते हो, उसमें क़लम के मुँह की कालिमा पर भी—भगवान् के स्नेह का कम्पन—स्फुरण होता है। क्या तुम विश्व के सौभाग्य-साम्राज्य के मन्त्री नहीं हो? क्या तुम अन्तरतम के अनन्त के सन्देश-वाहक 'जीवन-दूत' नहीं हो? क्या पाप के कुम्भी-पाक में पहुँचकर, प्रभु की वाणी की चर्चा करनेवाले, राजदूत नहीं हो? वह राजा जो अपने से परे किसी की सत्ता नहीं मानता, वह उपदेशक जो प्रभु के अस्तित्व के बुरे अर्थ कर अपना रोज़गार चलाता है, और वह तत्ववेत्ता, जो अपने अस्तित्व से भी प्रभु के अस्तित्व को कमज़ोर मानता है, कैसे तेरी वाणी का स्वाद पा सके, तेरे मिटने का उन्माद पा सके?

तुम तो वह हो—जो आँसू-भरी आँखों से भी, उस संकट को स्पष्ट देख सकते हो, जो तुम्हारे जन और ज़माने पर लूम रहा है।

तुम उसकी ज़बान हो जो बोल नहीं सकता, उसके हाथ, जो लिख नहीं सकता। उसकी चेतना जो असंगठित और तितर-बितर पड़ी है, उसके वकील जो सब कुछ खो चुका, उसके रक्षक जो बलवान् की कुचलन से बचने के लिए छटपटा रहा है। तुम शिकारी के तीर के निशाने पर मुग्ध नहीं होते, लक्ष्य के भेदित होने के पहले अपना हृदय लगाते हो। तुम मोटे पेट, और अजीर्णवाले धनी के साथ नहीं घूमते; भूख से मरते हुए को, भूनकर रोटियाँ खिलानेवालों में तुम दीख पड़ते हो। ज़रूरतमन्दों और दबे हुओं में तुम्हारे दर्शन होते हैं—उनमें ज़रूरतमन्द ग़रीब होता है, और दबा हुआ लँगड़ा—वहाँ तुम्हें मदद मिलने के बजाय, तुम्हारी सारी सहायता और शक्ति की परीक्षा होती है तब भी तुम उन्हीं के साथ रहते हो। परन्तु तुम्हारी वाणी रुकती नहीं, झुकती नहीं, क्यों ? इसलिए कि तुम प्रभु के सन्देशवाहक हो।

बैठे बैठे का पागलपन

(अ)

प्रेम, साहित्य के जगत् में, रस की हृदय को छू लेनेवाली मीठी किन्तु पुरुषार्थमयी सुकोमलता का नाम है। जीवन की साधों के उदय और अस्त को नित्य की नवीनता की डोर में गूँथकर, ख़तरे की गोद में निवास करनेवाले अनहोनेपन के निकट पहुँचना और इस पहुँच का, सूर्य किरनों की तरह नित्य अस्त होकर भी, फिर-फिर कर नया बालपन पाना—यही तो 'इस जगत्' के प्रेमी का प्रत्यक्ष प्रेम-स्वरूप हो जाना है। रामतीर्थ के शब्दों में 'प्रेमी वह जो प्रेम पर मरे'; प्रेम वह जिसपर—जिसकी अपौरुषेय शक्ति पर, स्नेह की ओतप्रोतता पर और बलि की क्षितिज को छू लेनेवाली सामर्थ्य पर,—जगत् मर-मर कर रह जाय। हृदय के ब्रह्म का आचार यही कहा जायगा। इसे कवि कहिए, योद्धा कहिए, योगी कहिए, बलि कहिए या हृदय 'वाद' के युग में उसे हृदय कहिए।

(आ)

प्रेम उसकी जागीर है, प्रेम पर उसी का एक छत्र अधिकार हो सकता है, जिसने अपने अन्तरतम की सामर्थ्य के बूते प्रेम की प्रत्येक गति-विधि—उसकी श्वासों की वायु, उसकी लहरियें, उसके नज़रों के परे तक पहुँचने के खेलों और उसके बलि-कौशलों को अपनी उज्ज्वल उदासीनता और वेदना-मय मुसकान में बाँधने का अध्ययन किया है। सस्ती लगन और उज्ज्वल समर्पण,—दोनों ही इस विजयी की प्रजा हैं। अनन्त प्रेम-कोष अपने पास रहने, और चक्रवृद्धि के ब्याज की गति से अपने अन्तर के जगत् और आस-

पास के वातावरण में बढ़ने पर भी, वह, उस कोष की कोई वस्तु हृदय का बोझ घटाने, और नयी वस्तु के लिये स्थान बनाने के हेतु बाज़ार में नहीं रखता। हृदय के अन्दर ही सौदागरों का टोटा कहाँ? विन्ध्या के शिखर, नर्मदा की लहर, बेतवा* का कलकल, मोर का गायन, मौन पर खुली हुई, हृदय में गड़नेवाली आँखें, तथा शूली का लालच,—ये सब सौदागर बाहर कोई वस्तु आने ही कब देते हैं?

(३)

और उस जागीर के उपयोग में, प्रेमियों की 'उदार कंजूसी' भी अध्ययन और दुलार की वस्तु होती है। उस जागीर की प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक बहक, भावों के भगवान पर चढ़ती रहती है। उदार वह इसलिये, चूँकि दान के समय पास कुछ नहीं रखा जाता; और कंजूसी उसमें इसलिये चूँकि देश और काल करारे संग्राम करके भी उसकी लहर को कुपात्र पर नहीं बरसा पाते। इसे तलवार की धार कहिए,—क्योंकि उत्थान के अतिरेक और पतन के प्रारम्भ के बीचोंबीच की हलकी रेखा पर चढ़कर चलना होता है। चोर और चितचोर दोनों हैं कृत्यों में एक ही; परन्तु पिछला, अन्तर की अनन्त निधियों को जगत् से लूटकर भले लाया हो, अपने अभिमत के सम्मुख रख देगा। और दूसरा उसके सामने कभी नहीं रखेगा, जिस पर उसने अपनी लूट आज़मायी है। इसीलिये चोर पतित है, उसकी कृति मोह है, वह अपराध की पराजित प्रजा है, वह प्रेम-पथ का कोढ़ी है। चितचोर अपने समस्त शापों और वरदानों को अपने आराध्य पर चढ़ा देता है। वह दाँव चाहे जिस

---

* सतपुड़ा पहाड़ में एक नदी है जो पर्वत-मालाओं के सौन्दर्य की गोद में बहती है।—लेखक

ओर साधे पर निशाना अपने ही पर झेलता है। रूप, गुण, धन या प्रभाव किसी भी क़ीमत पर उसे नहीं खरीदा जा सकता। अपने ब्रह्माण्ड में वह सूरज है। अपनी सितारों की दुनिया का वह ध्रुवतारा है। अपने बाग़ का जहाँ वह आतप है, वहाँ वह पावस भी है, वसन्त भी है।

(ई)

कवि प्रेम शब्द को मोह के जगत् से इतनी दूर खींचे ले जा रहे हैं, जहाँ तक विकार नहीं पहुँच पावेंगे। तत्वज्ञान ने असफल होकर जहाँ जुआ नीचे रख दिया होगा, वहीं से सच्चे कवि ने उसे उठा लिया होगा। यदि भक्ति सचमुच कोई—श्री विवेकानन्द के शब्दों में—योग हो, तो उसे, भावों के इस दीवाने के द्वार मज़दूरिन बनकर रहना पड़ेगा। और मुक्ति जैसी खुली हुई, स्वच्छन्द, वस्तु को गरुड़ बनकर, अपने पंखों पर, इसी दीवाने देवता की प्राण-प्रतिष्ठा करनी चाहिए। और यदि कोई प्रभु रहता हो, तो इस अतिरेक के बीमार से दूर वह कहाँ रहेगा ? किस आशा से ?

सो, यथार्थ कवि के ज़िन्दा रहते, प्रेम को विकार के निकट ले जाना, जगत् की साध्य घटना नहीं हो सकती। कवि के हाथों जाने देकर व्यभिचार ने प्रेम को सर्वथा उड़ जाने के लिये छोड़ दिया। अब वह हाथ आने को नहीं। और यदि वह दोनों रूपों में है—प्रेम के रूप में और व्यभिचार के भी—तो वहाँ ज़िन्दा काव्य कहाँ ?

(उ)

शब्द अक्षरों ही से बने हैं; वे चाहे जहाँ घसीटे जाते हैं—जा सकते हैं। परन्तु जब वे कवि के निकट होते हैं तब वे अपने गौरव के पूर्णभार को अनुभव करते हैं; उनके क़दम उठाने पर हर्ष में भी जयध्वनि होती है,

वेदना में भी मस्तक झुकते हैं। मुसकान वहाँ मीठी होती है; आँसू वहाँ उससे भी मीठे हो जाते हैं!

(ऊ)

प्रेम शब्द अब युग परिवर्तन की यमुना की लहरों से भीगता जा रहा है और मौलिक विचारकों की स्फूर्तियाँ उसे छू-छूकर, नक्षत्रों की ऊँचाई से लड़ाई ठाननेवाला बना रही हैं, अतः अब वह मच्छड़ भरे तालाबों में भैंसों के साथ नहीं लोर सकेगा। वह कृष्ण की सौगन्धों की क़ीमत पर भी बाँसुरी की धुन में अब 'कच' 'कुच' 'कटाक्ष' गाता खड़ा न रह सकेगा। वह गीत ही गावेगा, किन्तु वे ज़माने का भाग्य लिखेंगे।

अशस्त्रधारी पुरुषार्थ

सन्त विनोबा एक बार उन लोगों से नाराज हो उठे, जो अपने साहित्य को छुपा कर रखते हैं। उन्होंने इस बात को अपने प्रयत्नों का खुद भोगना बताया। मैं तो इस अपराध का अपराधी ही माना हुआ। किन्तु एक उलझन आज भी मेरे मन में ज्यूँ की त्यूँ है——

जब हर बच्चा पैदा होने के पश्चात् थोड़े दिनों छुपाया जाता है; हर विचार, बच्चे की अपेक्षा अधिक दीर्घजीवी या अमर बनाने की साध हो, तो क्यों न छुपाया जाय? विचारों के घातक, कानों से रक्त चूसते हैं और आँखों से डाका डालते हैं। यह कवियों के बदनाम प्रेम के जगत् की बात नहीं है। मेरा तो विचार है कि जो लोग बोलने का काम किया करते हैं, वे काम का बोलना बहुत कम बोल पाते हैं। यह सच है कि विचारों पर आक्रमण करनेवाले क्षमा नहीं जानते और विचारों के हिमायती विचारों की रक्षा के लिए अपने हृदय को क़िला तो क्या झोपड़ी भी नहीं बना पाते। तब ग़रीबिन विचार-जननी को अपने नन्दनन्दन के गोपन और संगोपन की ख़बरदारी रखनी होती है। उन्हें हवा बचाकर नहलाना और सुहलाना होता है। विचारों का प्रजनन बे-इख़्तियार होता है, माना; किन्तु दो बातें ज़रूरी हैं। एक तो विचारों का शरीर सुभग, सुथरा, सशक्त हो और दूसरे, युग के हृदय में उन विचारों की वाचा फूट सके।

दुर्गा पूजा में मिट्टी के घटों की स्थापना का विधान है। हम इस समय साँस लेते हुए मिट्टी के घटों की स्थापना क्यों न करें? और बाज़ारू तेल का नन्दादीपक उनके मस्तक पर सुलगाने के बजाय क्यों न मस्तक में

ही स्नेह-दीप सुलगावें ? कहते हैं दुर्गा सिंह-वाहिनी हैं। वे कैसे शक्ति-पूजक हैं, जो अपनी दुर्गा को नृसिंह-वाहिनी नहीं कहते। मेरे विचार से तो साहित्य की दुर्गा ज़मीन, झाड़ियों, नदियों, सरोवरों, टीलों, टेकड़ियों, खेतों, खलिहानों यानी राष्ट्र को सिंहासन बनाती है, संस्कृति के गहने पहनती है; उथल-पुथल का राज-दण्ड धारण करती है और मुकुट को ठुकरा कर किसी जाति के संकल्पों का, ग़रीबों के बग़ीचों में ऊगे हुए फूलों का हार अपने जूड़े से बाँधती है और समस्त राष्ट्र के निवासियों की आत्मा का वस्त्र पहनकर क्रियाशीलता के साथ बैठ जाती है। यदि दुर्गा यह नहीं है तो फिर वह कौन है जो दुर्गा है ? सम्प्रदाय के बन्दीख़ाने में बन्द करके हम अपने ही जैसी अपनी दुर्गा की कर्महीन और कायर तसवीर क्यों बनाते हैं ?

जब किसी एक देश का निवासी किसी दूसरे देश के निवासी से मिलता है तो वह जीवित व्यक्तियों से बातचीत करता है; किन्तु वही व्यक्ति जब हमारी मातृभूमि में आता है तब हम प्राणों की धौंकनी चलाये रखनेवाले लोगों से कुछ नहीं बोलता ! वह हमारे राष्ट्र के खण्डहरों से कानाफूँसी करता है और हमारे कौशल पर मस्त होने के बजाय शताब्दियों के सड़े हुए भारत के भोजपत्रों और काग़ज़ों को पढ़-पढ़ कर मस्तक डुलाता है। यही क्यों, उन पत्थर की लकीरों और भोज-पत्रों पर लिखी हुई पंक्तियों को वह मूल्यवान् ख़जाने की तरह अपने साथ ले जाता है। उस समय वह हमसे भी एक काम लेता है। भोजपत्रों और शिलाओं पर लिखे हुए हमारे भाग्य की प्रतियों को रेल और जहाज़ों में चढ़ा देने के लिये वह हमसे बोझा ढोनेवाले का काम लेता है। पूर्वजों का वह बोझा हम पीठ पर लाद सकते हैं, मस्तक

पर नहीं। हम नाराज़ होते हैं कि हम सजीवों की यूरुप या पश्चिमी जग इतनी उपेक्षा करता है, किन्तु उपेक्षणीय हम, उपेक्षा से अधिक के जब हक़दार हों ? नालन्दा और वैशाली, महाबोधि के तपोवृक्ष बनकर एशिया के अरमान और जगत् के संकेत-प्राण हैं। यदि हम अपने बीच से गांधी और रवीन्द्र उठाकर एक तरफ रख दें तो हमारा भाग्य किसी ब्रिटिश अदालत में लावारिस और दिवालिया होने की दरख़्वास्त देता नज़र आवेगा। जगत् में अस्तित्वों की उपेक्षा नहीं होती। जब हम देखते हैं कि काशीप्रसाद जायसवाल के चरणों में बैठकर पश्चिम के लोग हमारी संस्कृति और सभ्यता की धाक मानते हैं, तब कितनी बार हम अपनी जाति में, भारतीय जाति में अनेक श्रीकाशीप्रसादों का अपने हृदय के अन्दर आत्मदर्शन करते हैं ? किन्तु हम किसी महान् वस्तु का आत्मदर्शन तो तब कर सकें न, जब हमें अपने आत्मसंकीर्तन से अवकाश मिले ? जायसवाल जी अपने तप में यशस्वी हुए कि उन्होंने भारतीय जाति की राष्ट्रशक्ति, राष्ट्र-गौरव और राष्ट्रीय-आदर्श को खण्डहरों के पत्थरों और सदियों के सड़े भोजपत्रों और काग़ज़ों में से सही-सलामत जीवित निकाला। किन्तु एक हम हैं, जिन्होंने जायसवाल जी और उनके से अन्य प्रयत्नशीलों के कष्ट-साध्य प्रयत्नों पर अपनी बे-जानकारी के खण्डहर खड़े कर दिये! ब्रह्माण्ड पर शक्ति रखनेवाले सूर्य की किरणें भी मर्यादा के ख़िलाफ़ हमारे कमरे में प्रवेश नहीं कर सकतीं; यदि हमने द्वार बन्द कर रखे हों। तब प्रतिभा की ऊँचाई और खोज के गाम्भीर्य से कही हुई बात को समझने की सतह तक जब हमारी जाति न पहुँच पावे तब हमारी आँखें और हमारा हृदय ऐसे प्रयत्नों को कैसे गोद खिला सकता है ? यही कारण है कि बड़े दिनों और बहुत देर करके, जब

इतिहास का कुछ आलोक लेकर कुछ प्राणवान लोग आये, तब हमने पन्ने बेचकर पुस्तक प्रकाशन करनेवालों से अधिक कदाचित उनका मूल्य नहीं कूता। वे राष्ट्रीयता के संकेत युग में इतिहास का सन्देश अपनी पीठ पर लाद कर आये; किन्तु हमारी रुचिहीनता के प्रहरी हमारे हृदय-द्वार पर खड़े हैं और वे हमें हास-विलास के दिमागी चकलों से बाहर आकर इतिहास के उन गम्भीर संकेतों को न हमारी आँखों पर चढ़ने देते हैं, न हमारे हृदय में प्रवेश करने देते हैं, न हमारी क़लम पर उतरने देते हैं। फिर युग की ज़रूरत के अनुसार हमारी जाति के जीवन पर उन संदेशों के उतरने की बात ही दूर है।

हम तो अपने देश के साहित्य और जीवन-निर्माता की बात को विचित्र तरह से भूल जाते हैं। किसी चिन्तक का हमारे बीच होना अभिशाप है। हमारे बीच चिन्तकों का आना उसी तरह है जिस तरह गायक अपना गीत गावे और वह अपनी ध्रुपद की तान जोर से खींच दे और गीत के बीचोंबीच ही उसकी वह तान ठहर जाय, तो हममें से किसी के पास कण्ठ नहीं कि गायक की आगे की कड़ियाँ अपनी स्वर-लहरी से गर्वपूर्वक सम्पूर्ण कर दे और अपने कण्ठ की तरलाई पर राष्ट्र के मस्तक डुलवा ले। स्वामी राम जैसे सफल और सिद्ध कवि का हमारे बीच आना और जाना एक ऐसी ही बात है। हम उस सफल गायक की स्वर-लहरी से राष्ट्र-भारती का अभिषेक न कर सके। ग्रन्थों के बन्धनों के आदी हम, स्वामी राम के कथन में भी मुक्ति का गीत ढूँढ़ने के बजाय वेदान्त के बन्धन ढूँढ़ने लगे। तब राम की बाँसुरी का स्वाद हमारी नसों में पनप ही कैसे सकता है? एक कहानी में राम ने कहा कि कोयल आम के झाड़ पर बैठे या नीम के

झाड़ पर, झाड़ सूखा हो या हरा हो, और कठोर अन्धड़ आने पर झाड़ों के पत्ते चिंघाड़ें या झाड़ों की डालियाँ ऊँची-नीची हों, वे टूट भी भले ही जायँ; किन्तु कोकिला का अभिमान कभी डावाँडोल नहीं होता। वह जानती है कि उसका अस्तित्व चीत्कार करनेवाले पत्तों की डावाँडोल होती हुई डालियों पर अवलम्बित नहीं है। दस टन की डालियों की अपेक्षा सवा तोले वजन के अपने पङ्खों पर उसकी शक्ति और स्वतन्त्रता का गर्व अछूता है। हमारे बीच कितनी साहित्य-कोकिलाएँ हैं, जो अपने हिलते-डुलते आश्रय-स्थानों से न घबड़ाकर, अपने पङ्खों से अनेक अन्धड़ों को चीरकर अपना पथ बना लें और अपने बन्धन-देश से मुक्ति-लोक तक अपने जाने की ऐसी खड़ी रेखा खींच दें, जिससे समस्त पङ्खवान तरुणाई मुक्ति-देश का पथ पा ले।

हम अपनी इस आदत को क्या करें? यदि किसी के दोष सुनता हूँ तो तुरन्त मान लेता हूँ और उस अद्रव्य को पेट में लेकर फिर बाहर लाता हूँ और अपनी साहित्यिक पीढ़ी को उस निन्दा-निधि की ख़ैरात बाँटता हूँ। संसार के दोषों का मैं बिना प्रमाण सरल विश्वासी होता हूँ, और यह चाहता हूँ कि मेरी ही तरह मेरा पाठक भी मेरी लोक-निन्दा पर विश्वास करे। किन्तु यदि मैं किसी के गुण, किसी की मौलिकता, किसी की उच्चता की चर्चा सुनता हूँ तब मैं उसके लिए प्रमाण वसूल करने के इज़हार लेना चाहता हूँ। जो कलाकार अपनी एकांत प्रेरणा को वाहन बनाकर अपने सम्पूर्ण स्वप्नों और इरादों को लेकर बैठ जाता है, जो सूरज और चाँद के प्रकाश के साथ होड़ा-होड़ी करता है, जो अपने आदर्श या आराध्य की तान मिल जाने के लिए अपने प्रयत्न के टूटे स्वरों को जोड़ा करता है, वह निन्दा

के महायज्ञ में 'होता' बनकर कैसे आवे ? उसके अंगों को तो हवन-द्रव्य ही बनाया जा सकता है। यदि हम प्रेमचन्द जी की कला की माप नहीं कर पाते तो अपने आकलन के अपराध का दण्ड ।तो उन्हें दे ही सकते हैं ! यही हमारा पितृ-तर्पण हो रहा है ! और, नक़द-धर्म के उपासक हम, उसे जीते जो ही कर डालना चाहते हैं ! जहाँ भी ऊँचाई को छूने के लिए अपने अन्तर की अँगुली नहीं पहुँच पाती हम खीझ उठते हैं। और, ऊँचे बिन्दु को कोसने लगते हैं। उत्थान के अभाव और पतन की पराकाष्ठा से भरा जानेवाला मेरा मानसिक पेट जब स्वयं ही आत्मप्रकटीकरण की भूख अनुभव नहीं करता तब औरों की ऐसी वेदना की मैं कैसे क़द्र करूँ ? जिसका पिता रोष हो, जिसकी माता उद्दण्डता हो, जिसकी बहन अविचारपूर्ण आत्मश्रद्धा हो, जिसका भाई परिणाम की गम्भीरता का अज्ञान हो, वह और चाहे जो कुछ हो, साहित्य तो नहीं हो सकता।

मतभेद तो रहने स्वाभाविक हैं। वाद्यों के भिन्न-भिन्न होने से जब गीत में मिठास आता है, वृक्षों और पुष्पों की विभिन्नता में जब बाग़ गर्वीला नज़र आता है और संसार के सातों रङ्ग मिलकर जब एक उज्ज्वल रङ्ग बना देते हैं तब कौन कहता है कि विभिन्नता में एकता स्थापित नहीं की जा सकती ? मतभेद प्यारी वस्तु है। क्रिया-हीन समर्थन की अपेक्षा ईमानदार मतभेद अधिक मूल्यवान है। किन्तु वह हो मतभेद। बदला न हो। और न यह भावना हो, कि अब मैं पीछे पड़ गया हूँ, इस नन्दन को तो स्मशान ही बनाकर छोड़ूँगा। जब एक ही मनुष्य के जीवन में अनेक मत बदलते हैं और अपना नया मत बनने के समय अपने पुराने मत रखनेवाले अस्तित्व को जब वह स्वयं कोई दण्ड नहीं देता तब हम अन्यों के मतभेद से क्यों ऊब

उठें ? यह सम्भव है कि जो विचार आज हमारे हों कुछ समय बाद हमसे मतभेद रखनेवाले के हों; और जो विचार आज उसके हैं वे किसी दिन हमारे हो जायँ। किन्तु यह चर्चा विचारों की है। घृणा और विकारों के लिए नहीं। अस्तु। मैं तो कोमल और ललित साहित्य के समस्त प्रहारक मित्रों से कहता हूँ—

"पखुरी लगे गुलाब की—
परि है गात खरोंट।"

हम एक बात तो स्मरण रखें। ग्रन्थों के नियमों का नियमन व्यक्तियों के व्यवहारों से होता आया है। स्वयं ग्रन्थों में आराध्य, आदर्श या प्रभु छुपकर नहीं बैठता। जिन दिनों तरुणाई लोहखण्डों को तोड़कर मुक्त होने के लिए छटपटा रही हो, उन दिनों हम व्याकरण और पिङ्गल के नियमों के टूट पड़ने पर शोक प्रस्ताव पास न करें। यदि हम अपने और अपने से पहले के ज़माने के पतन की ईमानदार कैफ़ियत देने के योग्य नहीं हैं, तो मस्तानी तरुणाई के आगे बढ़ते हुए पैरों को रूढ़ियों और परम्पराओं से बाँधने का हमारा उद्योग हमारे ही सौभाग्य के ख़िलाफ़ हमारा विद्रोह कहा जायगा। जिन दिनों हम कीर्ति और धन की दूकानदारी खोलकर समस्त साहित्यिकता को अपने पैर में ठीक बैठनेवाले जूते की तरह बना डालना चाहते हों, उन दिनों तो सूर के से स्वाद की, तुलसी की सी तपस्या की, मीरा के से उन्माद की, भूषण की सी निर्भीकता की, हमारी हिमायत ईमानदार हिमायत नहीं कही जा सकती। हमने जो कुछ अपनी कृति से निर्माण किया, वह देश की पराधीनता और साहित्य के दिवालियेपन के रूप

में हमारे सामने है। यदि हम पतन के ख़िलाफ़ विद्रोह न कर सके तो हमें आज अपने ख़िलाफ़ विद्रोह स्वीकृत करना चाहिये।

फ्रेंच और जर्मन, रूसी और इँगलिश—इनके साहित्यों का आदान-प्रदान है। भाईचारे के भेंट की तरह एक भाषा दूसरी भाषा से यदि कुछ लेती है तो कुछ देती है। किन्तु हमारे साहित्य में तो हम भिखमंगों की तरह लेते ही लेते हैं। देने को हमारे पास क्या है? जब हम अपने देश ही की भाषाओं से आदान-प्रदान या सम्बन्ध स्थापित नहीं कर पाते, तब पश्चिम की उन्नत भाषाओं से तो भाईचारा क्या स्थापित करेंगे?

शीघ्र ही लड़ाई छिड़नेवाली है। कुछ लोग शान्ति का निरुद्देश पुण्याःवाचन कर रहे हैं; और कुछ लोगों को सङ्कट यहाँ मालूम होता है, चाहे घटना दुनियाँ के किसी भी हिस्से में घटे। मैं तो इसे साहित्यिक नास्तिकता कहता हूँ। मै तो सपना देखता हूँ कि अँगरेज़ी अख़बारों के तार, समाचारों की जूठन और उनकी विशेष बातों की अपनी भाषा में की हुई बेहूदा नकलें अब हमें सन्तोष न दे सकें; और हमारे तरुण लड़ाई के मैदानों में पहुँचने की कोशिश करें। मुझे तो एक क्रियाशील तरुण का युद्धक्षेत्रों और दुनियाँ के घटनास्थलों में जाकर अपनी भाषा के पत्रों में सन्देश भेजना और वहाँ की परिस्थितियों पर ग्रन्थ लिखना सम्पूर्ण साहित्य-सम्मेलन के एक अधिवेशन से अधिक महत्त्व का मालूम होता है। युद्धक्षेत्रों में हम गूँगी भेड़ों की तरह चाह से या बेचाह से कट जाते हैं। किन्तु हमारी कहानी कहने-वाला कोई नहीं होता। शासन की विषमता से भारतीय-ज्ञान शस्त्र नहीं छू सकता। और शस्त्र रखकर कोई भारतीय, ज्ञान के पास नहीं जा सकता। मस्तक की धड़ और धड़ की मस्तक के साथ यह विषमता साहित्य के लिए

राहु और केतु हो रही है। यदि हमारे कल्पनाशील, क्रियाशील, साहसी, साहित्यिक तरुण चाहें तो अपनी साहित्यिक तेजस्विता से सिर और धड़ से लगे हुए एक सम्पूर्ण भारतीय मानव का निर्माण कर सकते हैं।

समुद्र से हम दूर भले रहें, किन्तु इस बात का ज्ञान तो हमें ज़रूर है कि हमारे देश के तीन ओर समन्दर लहरें ले रहा है, उस पर नौकाएँ भी चल रही हैं, व्यापारी जहाज़ भी दौड़ रहे हैं और जङ्गी जहाज़ भी समन्दर की छाती छेद रहे हैं। जब हमारे ज्ञाताओं की क़लमों ही पर यह परिस्थिति नहीं उतरती, तब लोगों की आँखों में दौड़ते हुए जहाज़ोंवाला समन्दर का नक़शा कैसे भूलेगा? और इस समस्त परिस्थिति पर अपना कब्ज़ा करने की इच्छा कैसे जाग्रत् हो? लकड़ी की नाव पानी पर तैरती थी; और लोहे के महल हवा में तैरने लगे। क्या हमारे पास ऐसा साहित्य है जो इन दो ज़मानों को सीधी खड़ी रेखा खींचकर जोड़ दे। स्वाद के अभाव में किसी पुरुषार्थमय मिठास पर हमारी तरुणाई ललचे कैसे; और वह लालच साहित्य की क़लम पर कैसे उतरे—यदि हवाई जहाज़ों पर हमारी तरुणाई, न दौड़कर चढ़ने में उत्साहशील हुई हो और न फिसलकर गिर पड़ने पर पुरुषार्थ का त्यौहार मनाने योग्य हुई हो?

हम बड़े हों या छोटे हमने घर-घर और व्यक्ति-व्यक्ति में मरने का डर बोया है। हमारे लिए मार डालना ही गुनाह नहीं है, मर जाना तक गुनाह हो गया है। यूरुप का लेखक नई से नई बाजू पर दीपक की तरह स्पष्ट और गणित के अंकों जैसे सुलझे हुए विचार प्रकट करता है; किन्तु पुरुषार्थमय साहित्य और चर्चा का बोझ हमसे नहीं सँभलता। हमें रोटियाँ चाहिएँ, राष्ट्र नहीं चाहिए। यही तो कारण है जो हम कभी-कभी कह बैठते हैं कि

साहित्य चाहिए, राजनीति नहीं चाहिए। आज के साहित्यिक चिन्तक पर ज़िम्मेवारी है कि वह पुरुषार्थ को दोनों हाथों में लेकर जीने का ख़तरा और मरने का स्वाद अपनी पीढ़ी में बोये। यह पुरुषार्थ शस्त्रधारी से नहीं हो सकता। यह तो क़लम के धनियों के ही करने का काम है। वे ही इसे करें।

जोगी

(१)

कुछ दिन हुए, एक कहानी सुनी थी। फ़ारिस के किसी कवि के दिमाग़ की उपज थी। वह तिथि, उस किताब का नाम, उस कवि का नाम, और स्मृति के दीवालख़ोरेपन से उसके सुनानेवाले की सूरत, सब कुछ, मेरे मन से उतर गई—मानो बीते समय के न लौटने का समर्थन करती हो। वे दो पंक्तियाँ भी मिट गईं—सूरज की करारी किरणों के पड़ने के बाद, पड़ी हुई अमृत विन्दुओं के निशान कैसे ढूँढ़ूँ ?

(२)

एक जोगी था, रंगीन-सा। सुख, चैन, आचार, विचार, उठना, बैठना;—सब आदमज़ात जैसा। औसत आदमी; पतन उसके साथ खेलता-सा,—उत्थान सूरज की किरणों जैसा दूर दिखाई देता। मानों उसका जोग उसकी 'समझ' में था। शस्त्र का दैत्य, शास्त्र का देवता, और समाज का मानव, तीनों, उसका समर्थन न करते। करते भी कैसे ?—इतिहास, कुछ कल होनेवाली घटना को आज कहने ही न लगेगा कोई। वह तो हो चुकने-वाली घटनाओं का इमली के बीजों जैसा गिना हुआ हिसाब है। तब फिर, जोगी के जोग को कोई दूरबीन से भी कैसे देख पाता ?

(३)

गोंड़ों और भीलों की नगरी-डगरी में एक बड़ा-सा पत्थर ही 'बड़ा देव' कहलाता है। सिंदूर के रंग से रँगीला—और नारिकेलि-फलों का भोक्ता। कितने पशुओं का वध इस देवता के नाम पर नहीं होता! भक्तों को जो महाप्रसाद चाहिए। रंग देखते ही रक्त-तर्पण सूझता।

जोगी वरदान देता। लोग जय बोल उठते।

(४)

जोग धीरे-धीरे बड़ा-सा व्यापार बन गया। जीवन की अस्थिर लहरों के नाम हुण्डियाँ लिखी जाने लगीं। 'जा, तू गोरा हो जा', 'जा, तू बड़ा हो जा', 'जा, तू विजयी हो जा', 'जा, तू अमर हो जा'। लोग दंग थे—'यह अपने आप मीठी चीज़ है—इसमें बाहर से शक्कर नहीं मिलानी पड़ती।'—'इस मिठास से वाणी में दुर्गन्ध नहीं आती'। 'इस मिठास में कीड़े नहीं पड़ते—पड़े हुए मिट जाते हैं।' इस तरह जितने मुख, उतनी बातें। जोगी फूला,—लगातार हुण्डियाँ लिखने लगा। वह गढ़े में बैठा था,—गंगा के उस तट को वह कैसे देख पाता। अपनी 'परिमितता' का उसे इतना उन्माद कि उसे 'तीन लोक' समझता। भला ऐसा 'ब्रह्माण्डों का नायक' क्या जाने कि दुनियाँ उसकी सीमा के भी परे है, और उसकी हुण्डियों से भी अधिक धनी है।

(५)

एक बहन आई, एक दिन। इसके पहले और बहनें आ चुकी थीं। जोगी की शोहरत थी, कि उसके आँसुओं के सर पर टपका लेने के बाद,—मिट्टी खानेवाले बच्चों की माताओं के धन मिट्टी नहीं खाते। इस बहन ने भी प्रार्थना की—'बाबा, मेरा नन्हा मिट्टी खाता है, ज़रा इसे बरज दो।' मिट्टी का पुतला मिट्टी खाने से रोकेगा?—जोगी सहमा! हुण्डी लिख दूँ?—उसने कहा,—'माई तरसों आइयो।'

बेटे की माँ उठी और अंगार बरसती दोपहरी में चली गई; कोसती? असीसती? कौन जाने?

इस 'पत्थर' का रंग न उतरने देनेवाले, एक मनुष्य ने कहा,——वह भी बे-रँगा न था;——उसकी तसवीर क़लम ने नहीं, ़कुदरत ने खींची थी; हाँ तो, उस मनुष्य ने कहा——बड़े निष्ठुर हो बाबा। धीरे-धीरे तुम असीम होगे; पर तुम्हारा बड़प्पन उस असीम की भी सीमायें तोड़ने लगा है।

——"क्यों भैया ?" जोगी ने डरकर पूछा। "अरे इस दोपहरी में, बरसते अगारों में यहाँ कौन मरने आता? चील अण्डे डाल रही है, साँप मोर की पूँछ में दुबका जा रहा है, चीता मारे प्यास के गाय के बछड़े के गले से बहता पसीना चाट रहा है, और तुमने धीरे से कह दिया—'माई, तरसों आइयो।' वह कोमल फूल! क्या इस गर्मी में दूसरी बार बाहर आकर............?" "पर, माता की ममता को, उगती कली के युग के वैधव्य में, क्यों ढूँढ़ता है रामू?—और फिर मैं बच्चे पर रहम करूँ, यानी उसकी आंतों में अन्तक बनकर बैठनेवाली मिट्टी पर?"

—जोगी ने, अपने बोझीले पतन को, दृढ़ता से, नाम-शेष उत्थान की याद में ठुकराते हुए कहा।

समय बीतते न बीतते तरसों आज हो गया। माई आ गई। बेटा गोद में था। लाल, मिट्टी की याद में बेज़ार। दूध नहीं, खिलौना नहीं, कुछ नहीं—मिट्टी, मिट्टी। जोगी ने अपने विचारों का आँगन झाड़ा था—बरसों। अब तो एक दिन की साध आज का रोज़गार बन गई थी। उसने दायें-बायें के पार्षदों से, हाथ जोड़कर कहा—"रामू,—ओ श्यामू,—इस माई को तो आज भी लौटा दो भाई! मिट्टी मेरे बूते की हो ले, तब मैं इस माई की मनुहार के मोती से भी मिट्टी छुड़वा दूँगा। हुण्डी पर, बिना जमा

की पूँजी देखे, कैसे हाथ काटूँ ?"—भगतों की रूठी आँखों में पसीना आ गया। ठीक वैसा ही 'स-लोना' जैसा भुजाओं पर आता है। नमक के पानी में न जाने क्या-क्या गल जाता है। हैवान जोगी का निश्चय भी गल गया।

उसने मोती के गले में हाथ डालकर कहा—'मिट्टी नहीं खाया करते राजा।' बाल-सुलभ किलक ने, मानों हुण्डी सिकारने का निश्चय दिया। माँ पगली, हँसकर चल दी;—"अब मेरा बेटा मिट्टी नही खायेगा।"

(७)

तुम्हारे स्वामी से कहियो,—मेरा बेटा माटी माँगे है—श्यामू एक दिन ख़बर लेकर आया। हिसाब मिलाने में उलझे हुए पत्थर ने, दूसरे दिन देखा—माई आ गई। बोली महाराज, "लल्ला तुम्हारो कहनो नाँय मानें।" उसने घर के दरवाज़ों की तरफ़ देखा—धूल उड़ रही थी, और सब साँस के साथ पेट में जा रही थी। अपने पानी को सँभाला—कितनी मिट्टी वह रोज़ पीता है। अनाज सँभाला—मिट्टी की कंकरियों का हिसाब न था। उसे, अपनी नस-नस में माटी दीख पड़ी। उसने देखा—बे-छना पानी, बे-बिना दाना और धूलि-धूसरित जगह ही उसके स्वाद के साधन हैं। उसने माई से कहा—"तेरा बेटा, मेरी हुण्डी है माई। जिस दिन वह माटी खाता है समझो कि मेरे भी पेट में माटी है। कीच, कीच को क्या धोवेगा ?"—

दुखी माँ चली गई। बेटा गोद में था।

(८)

"क्या हुआ होगा अब?" एक दिन श्यामू ने पूछा। जोगी ने कहा—मिट्टी खाकर तो मिट्टी खाना नहीं छुड़ाया जा सकता भाई! बच्चे को वहाँ ले जाओ, जहाँ लोग मिट्टी न खाते हों।

———

न सधनेवाला सौदा

कौन ?

"हम हैं। देश के सेवक, समाज के अंग और आपके भक्त।"

तब इस दल-बल के साथ चढ़ाई क्यों की है ? और इतनी पुष्प-मालाएँ लेकर ?

"हाँ; हम आपकी आराधना करने आये हैं। आप हमारा आत्म-निवेदन सुनिये।"

आप तो स्वयं जगदीश्वर के नाम से परिचित हैं। आज का प्रत्येक राष्ट्र-सेवी आपकी—जनता-जगदीश्वर की—पूजा करता है। तब यह उलटी आराधना कैसी ?

"यह हमारी वीर-पूजा है।"

परन्तु मैं तो अपनी ही पूजा को मस्तक झुकाता हूँ। आपकी पूजा स्वीकृत करने का मुझमें न बल है, न तप है।

"हम तो देश में राम-राज्य लाने के लिये आपका जीवन-चरित्र लिखना चाहते हैं।"

तब तो पहले मुझे धनुष तोड़ना चाहिये, फिर निर्वासित होना चाहिये, इसके पश्चात् अपनी जानकी के हरण को बरदाश्त करने के लिये तैयार होना चाहिये, और फिर आपकी एक शिकायत पर गर्भवती जानकी को सदा के लिये निर्वासित कर देना चाहिये। क्या यह सब कुछ आप चाहते हैं ?

"हम तो आपका जीवन चाहते हैं। लिखने के लिये, पढ़ने के लिये और पथ पर चलने के लिये।"

आप वाल्मीकि का अभिनय पूरा कर सकते हों, पर मुझमें नट बन कर राम का अभिनय दिखाने और पुरुषार्थ का मज़ाक़ उड़ाने का साहस नहीं।

"क्यों, क्या हमारी सेवा का कोई मूल्य नहीं है ?"

तुम्हारी सेवा का ? अपार मूल्य है। इतना मूल्य मैंने सारे जीवन में पहले कभी नहीं देखा ! परन्तु इस मँहगी क़ीमत पर भी मैं सौदे पर चढ़ने योग्य नहीं।

*   *   *   *

कितने शांत हो इस समय तुम, करोड़ों लहरों में बँटे हुए समुद्र के समान; किन्तु तुम्हारी शांति को भयंकर होते कितनी देर लगती है ? तुम सागर हो। तुम्हारी लहरों के बीच अपने को खिलवाड़ में डालने का—न हो, न हो वह लालच।

हे अनन्त ! मुझ सान्त के साथ न खेल। समुद्र के गर्भ में भी ज़मीन है। तुम्हारी तरलाई के नीचे भी क्रूरता है। समुद्र की सतह मिलती है; तुम भी एक सन्देश के दीवाने हो उठते हो। समुद्र ही की तरह हृदय में ऊँचे हो, नीचे हो, पथरीले हो। स्थिर हो, किनारे न होकर भी ऊपर नहीं चढ़ते; चञ्चल हो, अस्थिर और नाशवान् लहरों में बँटे हुए।

जब तुम्हारी लहरों के सब तार मिले हुए हों, तब तुम संगीत जैसे मोहक, मधुर, आकर्षक और प्राण-संचारक हो। उस समय किसी ग़रीब की 'पाथर-भार' से लदी हुई 'तनिक-सी नैय्या' भी तुम्हारी गोद में खिलवाड़ करती है। किन्तु, जब तुम्हारी लहरें एक दूसरे से टकरा उठती

हों, जब तुम्हारी लहरों के तार बे-मेल हो गये हों, उस समय ?—उस समय तरल तरङ्ग-मालाओं से बन कर भी तुम कर्कशा हो, कठोरा हो, प्रलयङ्करी हो । उस समय तुम्हारी अपनी ही एक ध्वनि दूसरी से मेल नहीं खाती ।

ग़ुमराह राहगीर ! क्या इन्हीं तरङ्ग-मालाओं से खिलवाड़ करने का लालच है ? तो, ठुकरा कर इसकी वीणा के लहरीले तारों को न तोड़ । तार टूटते ही यह उत्तेजित हो पड़ेगी । यह अपने पर होनेवाले प्रहारों का चीत्कार से बदला चुकाने उठ बैठेगी । उस समय इसकी वह गर्जना किसी से न सही जावेगी ।

आशिक़

"मुझे क्यों हटाते हो ?"

मैं दोनों पर एक साथ प्यार नहीं कर सकता।

"बारी-बारी से सही।"

यदि तेरे पास आता हूँ तो मैं उसके पास नहीं जा सकता; वहाँ पहुँचने पर तेरी ओर आकर्षण नहीं होता।

"मेरे सौंदर्य को देखते हो; मेरी नवीनता को।"

मिठास ही तेरा शस्त्र है; जानता हूँ।

"मैं साफ़ हूँ। स्पष्ट दीख पड़ती हूँ। प्रत्यक्ष फल देती हूँ। मेरी दया के बादल बरस कर विश्व को हरियाला करते हैं।—'वह धुँधला है, काला है।' श्याम कहकर ही तो तुम अपना सर पचाया करते हो।"

हाँ, तू गिलास में भरा हुआ हलाहल है। स्पष्ट दीखती है, प्रत्यक्ष फल देती है, जो तेरे हाथ पड़ा सो साफ़ है। वह महान् है, गहरा है, और श्यामघन की तरह काला है। तेरे और मेरे पास उसकी उज्ज्वलता को देखने के लिए आँखें कहाँ हैं ?

"क्या इसका नाम अन्ध-श्रद्धा नहीं है ?"

क्या तेरा नाम अन्ध-अश्रद्धा नहीं है ?

"बड़प्पन उसी ओर क्यों है ?"

तू बिना बुलाये ही मन्दिर में प्रवेश करती है। आती है, मनुहार करती है। लिपटती है, चिपटती है। और उनके पास मुझे स्वयं जाना पड़ता

है। वहाँ मेरी रुचि की ग़ुलामी नहीं की जाती। उस द्वार का 'ठहरो' सुनकर मुझे प्रतीक्षा की घड़ियाँ बितानी पड़ती हैं।

"और वे जब कह उठते हैं कि :—

'कोई कितना सताये, खोलना हरगिज़ न कुण्डी को।' तो ?"

तो ?—मेरा जवाब होता है :—

'जो आशिक़ है वो साहब, फाँदकर दीवार आता है।'

"तब हमारा क्या होगा ?"—वह दिग्विजयिनी बोली।

मेरे पास क्या उत्तर था ? सिवा इसके—

मेरे जीवन की सुनहली साध बनकर तुम भी चल पड़ो, उसी सजीले साँवले श्यामघन की ओर।

असहाय श्यामघन !

मेरी श्यामलता का, मेरी ठण्ढक का, मेरे श्यामल-हृदय की तरलता का व्रत धारण किये रहनेवाली हिम-कंकरियों का, मेरे लिए तरसती हुई कृषकों की आँखों का, और मेरी याद में कुम्हलाते हुए हरियालेपन का, ज़िक्र करके, प्रभंजन, तुम मुझे भ्रम में मत डालो।

जगत् की बोझीली और गन्दी वायु से परे, मेरे आसमान में ऊँचे पर विचरने, और नगाधिराजों के अगम और अछूते शिखरों से नित्य आलिंगन करने पर, तुम वृक्षों के पत्ते लेकर, प्रियतम,' तालियाँ मत बजाओ। देखो, मैं पथ भूल जाऊँगा।

प्रिय, वह तो तुम हो, जो मुझे लिये-लिये न जाने कहाँ-कहाँ घूम रहे हो।

प्राण, तुम छुपे रहकर, जगत् पर जीवन ढुलकाने का सारा गौरव मुझे भले ही दे दो; किन्तु वे लोग धोखे में कैसे आयँगे, जो प्रतिक्षण अनुभव करते हैं कि जीवन श्वास की डोरी पर ठहरा हुआ है।

सहारे मेरे, मैं तो सदा ही तुम्हारी गति का ग़ुलाम, तुम्हारी मर्ज़ी का मोहताज़ हूँ। मैं तो मिटने की, मिट जाने की वस्तु हूँ,—अनित्य हूँ। नित्य तो तुम ही हो, अनिल! चाहे तुम मेरे साथ खेलो, चाहे मुझे अपने साथ खिलाओ।

कभी मेरा पर्दा बनाकर, सूरज को ढाँक दो, कभी मेरा झंडा बनाकर सूरज के राज्य को श्रीयुत कर दो, कभी मेरा नगारा बनाकर ग्रीष्म को चुनौती

देने लगो, कभी मेरे घर्षण की चंचला का प्रकाश कर, अन्धकार पर वार पर वार करो, और कभी मेरी सेना बनाकर तपन और जड़ता पर टूट पड़ो; परन्तु मैं यह कैसे भूलूँ कि मुझे तो, तुम्हारी, हाँ केवल तुम्हारी मर्ज़ी पर बूँद-बूँद होकर गिर जाना है।

मेरी श्यामलता के लहरीले वाहन, मेरी तरलता के अदम्य आवाहन, मेरे जीवन के कण-कण को वहाँ बखेर दो, जहाँ तुम्हारी महर हो।

तुम आनेवाले हो

मेरा सारा बाग़, बिना मौसम के ही फूल उठा;

—इसलिए कि तुम आनेवाले हो।

और फूल भी नीले हैं, पीले हैं, लाल हैं, हरे हैं, बैंगनी हैं, नारंगी भी हैं।

मगर इन फूलों पर गूँजनेवाले परिन्द सब एक ही रंग के हैं, कृष्ण, श्याम, काले।

इन गूँजनेवालों में से एक कहता है, आज उनके एक-एक अपराध उनके सामने रख दो। बहुत सहा, अब न सहो।

दूसरा कहता है—समय को श्रम मत बनाओ। श्रम को समय बनाओ। प्राण दो, प्रणय दो।

तीसरा कहता है—पुष्प में बन्द होकर, फिर निकल आना कैसा? प्रणय का खेल खेलकर प्राण का मूल्य करना कैसा?

और, इन गूँजनेवालों को, मैं अपनी आशाओं का प्रतिनिधि कहकर, इनकी कज्जलता में, कितनी उज्ज्वलता का अनुभव करता हूँ।

—इसलिए कि तुम आनेवाले हो।

तुम आनेवाले हो इसलिए—मन का हर विकार, उसकी हर वेदना आनन्द हो उठी है।

तुम आनेवाले हो इसलिए—काली ज़मीन अपने पर हरे चित्र, हरियाली अपने पर लाल चित्र, फूलों की लाली अपने पर भ्रमरों के काले चित्र बना रही है।

तुम आनेवाले हो इसलिए—काले आसमान की ज़मीन पर, मटमैले बादल चित्र बना रहे हैं, और बादलों में सुनहली नागन बनकर, बिजली चित्रित हो उठती है।

तुम आनेवाले हो इसलिए—समन्दर के मोतियों के स्वाद के खारे हो जाने की कल्पना कर, आसमान, ठंढे-मीठे मोती बरसा रहा है।

तुम आनेवाले हो इसलिए—सूरज की किरनों ने घर जगमगा दिया है, वायु ने ठंढक भर दी है।

और, अब तुम्हारा सन्देश आगया; उसमें युगों-युगों का तुम्हारा वही वाक्य लिखा हुआ है—तुम आनेवाले हो।

मुरलीधर !

'क्या तुम सङ्गीत हो ?'

तुम मेरे सङ्गीत नहीं हो। आलापों की तरह तुम मेरी मर्ज़ी पर लौटते कहाँ हो ? माना कि तुम्हारी कृपा के बादल बेएख़्तियार बरस पड़ते हैं; परन्तु उस समय तुम मेरी मलार नहीं बने होते।

—'तब क्या तुम मेरी मृदङ्ग हो ?'

हाँ; तुम मेरे प्रहार सह लेते हो; किन्तु मेरे बन्धन में जकड़े जाने के लिए कब तैयार होते हो ? मीठे बोलते हो; परन्तु मुँह पर आटा लगाने की रिश्वत उस मधुराई के बदले तुम्हें कब देनी होती है ? और 'सब कुछ' मेरे, मैं तुम्हारी वाणी पर यह इलज़ाम कैसे रख सकता हूँ कि तुम बाहर बोल रहे हो; तुम अन्तःकरण रहित हो ?

'आह ! तब तुम वीणा हो; नारद के नाद ब्रह्म से विश्व झंकृत कर देनेवाली।'

परन्तु वीणा तो मेरी गोद में रहती है। तुम कहाँ यह शर्त स्वीकृत करते हो ? माना, झनकारते ही वीणा स्वर देती है, मनुहारते-ही तुम दौड़ आते हो; किन्तु मेरे स्वर पर सदा ही तो तुम्हारे तार नहीं मिलते। स्वर से स्वर न मिलने पर, स्वर-लहरी से विश्व भर देनेवाली वीणा को गोद में लेकर, और हृदय से लगाकर भी, मुझे उसके कान ऐंठने पड़ते हैं। पर, हाय ! तुम तो मेरे कानों को वीणा बनाने के लिए घूमते हो।

—'तब मधुर मुरली के सिवा तुम और क्या हो ?'

पर अपने ओंठ पर तुम्हारे मुँह को रखकर अपनी वेदनाओं और उल्लासों की गूँज कहाँ मचा सकता हूँ? और तुममें छिद्र? और उन पर मैं अपनी उँगलियाँ रख सकता हूँ?

आह जाना, तुम न सङ्गीत हो, न मृदङ्ग हो, न वीणा हो, न मुरली हो,—

'तुम तो मुरलीधर हो।'

गृह-कलह

"वे आयेंगे नहीं; किन्तु इसी रास्ते से होकर गुज़रेंगे।"—सुना कि बिजली दौड़ गई।

इतनी-सी देर में अरमान कैसे निकलेंगे? मुँह ने कहा, मुझे मस्तक झुकाकर यह कहने दो :—

"हम तुम्हारे कहलाने का अभिमान करते हैं।"

जिस समय, बड़े दिनों, उन्होंने इस ओर से गुज़रने का अपराध किया, तब अपनी फुलझड़ियाँ छोड़ने के बजाय उन्हें कुछ कहने, कुछ पूँछने, कुछ गुनगुनाने देना। श्रुति का पथ तो छोड़ना नहीं चाहिये?—कानों ने कहा।

नेत्र खीझ गये;—"अरे, जिन्हें देखने के लिये रातों को, जागकर, शीत-ऋतु में भी छोटा बना दिया और पुतलियों के कारागारों को धो-धोकर साफ़ रक्खा, जब उनके आने का समय हुआ तब हमें बन्द कर मस्तक झुकाने और अपना रामायण गाने बैठ गये! हमें अपनी अन्तर की काल-कोठरी में उन्हें क़ैद कर लेने दो। वहीं आजीवन अलख जगाते रहना।"

किन्तु हाय, मैं इस गृह-कलह ही में लगा रहा; वे आये और चले भी गये।

इसी पार

"मैं इस तरफ़ होता हूँ; तुम उस पार हो। चलो, खेलें।" वे बोले।

ना, हरगिज़ नहीं—मेरा उत्तर था।

"तब तुम कैसे निर्भय हो?"

मैं अपनी निर्भयता का तुम पर प्रदर्शन नहीं किया चाहता।

"तब निर्भयता झूठी है।"

वह खरी है।

"प्रमाण?"

इसका पिता रोष नहीं है, इसकी माता उद्दण्डता नहीं है, इसकी बहन अविचार-पूर्ण आत्मश्रद्धा नहीं है, इसका भाई परिणाम की गंभीरता का अज्ञान नहीं है।

"तब फिर क्यों नहीं बहादुर की तरह उस ओर होते?"

मेरे क़ैदी, मैं तुम्हें छोड़ना नहीं चाहता।

"अरे, यह तो खिलवाड़ है!"

तुम्हें तो वरदान और शाप, उत्पत्ति और प्रलय, सभी खिलवाड़ हैं। किन्तु, मैं तो ऐसा कोई खेल नहीं खेलूँगा जिसमें मैं और तुम, दोनों, एक ही पार न रह सकें।

*　　　*　　　*　　　*

मैंने अपने खारे प्यालों का बचा-खुचा पानी भी औंधा दिया है; इसलिये कि हम दोनों इसी पार रहें।

मोहन

'धृष्टता' ? इस इलज़ाम का बोझ मैं कहाँ छिपाकर रखूँगा ?

'तू मोहक भले हो; परन्तु जब तेरे स्वर ही नहीं है तब संगीत तेरे नाद पर कै दिन रोवेगा ? मलार की तरलाई, आसावरी की मस्ती और सोरठ की वेदना क्या तेरे हवाले की जाय ?'

पर कान तो हैं। क्या मैं सुनने का भी मुस्तहक़ नहीं हूँ ?

'केवल वे ही सुन सकते हैं जिनके मस्तक डोल सकें।'

तब क्या मेरे उपहारों का कोई उपयोग नहीं ?

'वे बोझ मात्र हैं। तू उनका बोझ ही खींच सकता है।'

मेरे सखा, क्या इनका कोई उपयोग नहीं ?

'वे संदेश-वहन कर सकते हैं। और यदि तू सँवारे तो—'

प्यारे, तुम्हारा काम भर निकल जाना चाहिये मुझे उन्हें सँवार कर क्या करना है ? पर क्या मैं एक बात पूछूँ ?

'क्या ?'

तुम्हारा नाम ?

'मोहन'

क्या, तुम्हारे संदेश के बाद भी मेरा कण्ठ वैसा ही रह जायगा जिस पर तुम्हें शिकायत हो ? क्या तुम्हारी मोहनी यहीं आकर कुंठित हो जायगी ?

तस्मात् मह्यं मे नमः

मैं—गुरुदेव, मेरा पहला चित्र बिगड़ गया है। कितना विकृत हो गया है ?

वे—फिर ?

मैं—तोड़ डालता हूँ; दूसरा बनाता हूँ।

वे—अरे, पहली आशाएँ कभी संभावनाओं पर बैठकर नहीं आईं।

मैं—परन्तु तसवीर में मेरी आत्मीयता जो है ?

वे—क्या तेरी आत्मीयता का दुनिया में उषःकाल आया ही नहीं ? केवल प्रभात ही आया—यह लिख देना है ?

मैं—मेरे लिये दूसरा चारा क्या है ? कौन-सी सेहत है ?

वे—चारा है कि रंग अभी सूखे नहीं हैं और क़लम हाथ में है। सेहत है कि काग़ज़ अभी शेष है। लोग एक अन्तिम तसवीर बनाकर भी अमर हो लेते हैं। तेरी तो अभी पुस्तिका ख़ाली पड़ी है ?

मैं—लोग जो हँसेंगे ?

वे—वे पहले चित्र को देखकर तुझपर हँसेंगे, दूसरे चित्रों को देखकर अपने आप पर ! उस समय भूल का मूल्य चुकाकर भी, अस्तित्व की अनन्त राशि तेरे पल्ले पड़ी रह जायगी।

मैं—मेरे मास्टर ! मेरी मूर्खता के प्रदर्शन में तुम किस सुख का अनुभव करते हो ?

वे—मेरे जीवन के शाप, तुम्हें वरदान बनाकर रखना चाहता हूँ।

मैं—यह क्या मेरा गंदा चित्र ज़िंदा रखने से होगा ?

वे—अपने असफल प्रयत्नों को, असफल कह, गन्दा न कह। यदि दूसरा चित्र जीवन की कला का मन्दिर होगा तो पहले चित्र को उसकी सीढ़ी कहलाने का गौरव प्राप्त होगा। लोगों के मस्तक रखने के लिये मन्दिर प्रदान करोगे परन्तु चरण रखकर वहाँ तक आने के लिये ?

मैं—इस चित्र को नष्ट कर दूँ तो ?

वे—तो तुम कला के हत्यारे के नाम से नेक-नाम होगे। और यह, तुममें निवास करनेवाले चित्रकार की बाल-हत्या होगी।

*   *   *   *

अब मैं चित्रवाले कपड़े पहनता हूँ। व्याघ्राम्बर बिछाता हूँ। पीताम्बर ओढ़ता हूँ। चहकती हुई चिड़ियों, फूले हुए वृक्षों, बोलते हुए झरनों की आराधना करता हूँ। खाने के पकान्नों पर, बजाने के मृदंग पर और कान उमेठने की वीणा पर, मुझे मेरे आराध्य की तसवीर लिखी दीखती है। दौड़ने, खेलने, रोने, गाने, मरने, मारने और मिटने-मिटाने के समस्त क्षेत्रों में, मेरे प्रिय ! एक नया चित्र बनकर, मेरी क़लम के घाट उतरते, तुम्हीं दीख पड़ते हो।

आह ! जब नीले रंग में चित्रित, हरी घास पर बैठी हुई, बीन बजाती, तुम्हारी मुक्त-हास्य-मयी स्वकृत तसवीर को मैं मस्तक झुकाता हूँ, तब मेरा यत्न होता है कि मेरे मुँह से, 'तुभ्यमेव समर्पितम्' निकले। किन्तु ज्यों ही मैं इस बात की चिंता करने में उलझता हूँ कि कहीं मेरे आँसू टपक कर तुम्हारे चित्रित नाख़ून की लालिमा न धो डालें, त्यों ही मेरी ज़बान से बे-एख़्तियार निकल पड़ता है :—

"तस्मात् मह्यं मे नमः।"

वह वाणी

वह एक 'वाणी' है, जो लोक-जीवन के हृदय को सोच-सोचकर चिल्ला रही है और चिल्ला-चिल्ला कर सोच रही है। एक भुजा है, जो उनकी ओर से उठ रही है, जिनकी भुजायें उठ नहीं पातीं, और उनका भाग्य लिख रही है, जिन्हें शासन ने लिखना-पढ़ना नहीं सीखने दिया।

एक वाणी है, जो झोपड़ियों की कराह को राजमहलों में ले जाकर टकराती है और राजमहलों के अपमानों को झोपड़ियों के सेवा-पथ में मिले प्रभु के प्रसाद की तरह ग्रहण करती है।

एक वाणी है, जो गलियों में, कूचों में, झोपड़ियों में, महलों में, पहाड़ों में, गुफाओं में, भीड़ों में, एकान्तों में, विजयों में, विजय-पथ की पराजयों में, "चले चलो" का स्वर लिये, बराबर सुनाई पड़ती चली आ रही है।

एक वाणी है, कि समस्त धर्मों के देव-मंदिरों में जिसका रथ गतिशील, जिसका पथ उन्मुक्त है—किन्तु काँपते सिंहासनों का आडंबर है कि उस वाणी को वे न सुनें।

एक वाणी है, जो कि जहाँ तक भारत का नरमुंड है वहाँ तक, संदेश-वाहिनी बनकर, वह प्रचण्ड है और जहाँ तक विश्व-हृदय है, वहाँ तक विश्व-विभु की प्रार्थना के गौरव से गीली और बोझीली है।

एक वाणी है, जो संकटों को प्रार्थना की कड़ियाँ बनाकर बोलती है और विनाश की धमकियों में विभु की सुनहली आशा के दर्शन करती है। कलेजा है कि जो लोकजीवन का दलित कलेजा बन उठने की चाह बनकर

खड़ा है। मुँह है कि मुक्त-हास्य में विश्व-परिवर्तन के बोल महाप्रलय की वाणी बनकर आ रहे हैं। भुजायें हैं कि कष्ट-भोगी के गले के हार हैं, अथवा शक्ति के निर्देश की ललकार हैं, अथवा दबे हुए के लिए दंडित होने का दूना स्वीकार हैं।

वह लोक-जीवन के लिए प्रताड़ना सहता है। लोक-जीवन की भी प्रताड़ना सहता है, और उसका जीवन पतनोन्मुख लोक-जीवन की रुकावट के लिए स्वयं प्रताड़ना बन जाता है; क्योंकि वह लोक-जीवन को प्यार करता है।

लोक-जीवन की बंशी बनकर, उनकी भैरवी बनकर, उनकी साँस बनकर, उनकी उसाँस बनकर और उनका मस्तक बनकर स्थिर रहता है। संकट-गृह में, कारागार में और वध-गृह में वह मुक्ति की एक ही वाणी बोलता है। रूढ़ि के गुमराहों को वह प्रभु-पथ का पता देता है। देश-घातकों और विश्वास-घातकों में, वह उनमें निवास करनेवाले प्रभु को ढूँढ़कर जगाता है। निंदकों की सहिष्णुता उठाता है, क्रूरों की कोमलता जगाता है, और पथ-भंगों को वह अपने कलेजे पर से पथ-दान करता है।

लोक-जीवन के भाग्य का भविष्य वह लिखता है। किन्तु विश्व की गुत्थियाँ सुलझाकर तत्वज्ञ नहीं बनना चाहता।

वह कवि है। लोक-जीवन के आँसुओं से गीला, लोक-जीवन की चाहों से दरदीला, और इस इच्छा से दूर कि वह कवि हो, और इस बात को बिना जाने कि वह कवि है।

वह न सम्राट् है, न सरदार। न धर्माचार्य है, न व्यवस्था देनेवाला। वह एक वाणी है, जिसके आगे विश्व लाचार है कि उसे सुने। उसमें कराह

है, जिसमें कोटि-कोटि दुखियों की आत्मा सिसक रही है। उसमें गर्जन है, जो श्रोताओं की अकर्मण्यता को लज्जित कर रहा है। उसमें विश्वास है, जो बलि-पंथियों और कमज़ोरी स्वीकार करनेवालों का अपनी हृदय की धक-धक के बीच रक्षण कर रहा है।

वह वाणी है, जो राजाज्ञा नहीं है; किन्तु कोटि-कोटि आदमी, कोटि-कोटि मानव, जिससे बँधे हुए हैं; अनन्त सेना नहीं है, किन्तु उसके एक विश्वास पर कोटि-कोटि व्यक्ति ठहरे हुए हैं।

वह वाणी है, जो दण्ड देने में अपने को भी क्षमा नहीं करती; जो बुराइयों को अपने सिर पर लेती है और अच्छाइयों को प्रभु के चरणों पर चढ़ाती जाती है।

वह वाणी हर देश में है, हर जाति में है, हर धर्म में है। कभी आज्ञा से और कभी अवज्ञा से पैग़म्बरों का अनुवाद करके वह वाणी अमरीका में रूज़वेल्ट, इँग्लैंड में चर्चिल, रूस में लेनिन, जर्मनी में हिटलर, इटली में मुसोलिनी, टर्की में मुस्तफ़ा कमाल, चीन में च्यांगकाई शेक, और विश्व में न जाने कहाँ-कहाँ क्या-क्या कही गई। किन्तु गुरुदेव रवीन्द्र की बोली में भारत की वह कविता, वह सूझ, वह साहित्य, वह पुरुषार्थ, उस वाणी के स्वप्नों का जागरण, सेवाग्राम की झोपड़ी में निवास करता है। उधार लिया हुआ यह वंदन मैं आपको सौंपता हूँ।

संवाददाता

मैं हूँ संवाददाता। संवाद देना मेरा काम है। दुनियाँ में जिसे बीस बार गाली देकर भी, फिर-फिर देखे बिना नहीं रहा जाय, उसे कहते हैं अख़-बार। दुनियाँ के ज्ञान में पहिले शोधक, फिर चिंतक, फिर कवि, फिर लेखक, फिर पत्रकार और फिर आता है संवाददाता। अपनी इस पल्टन के गुणों में एक दूसरे से कोई मेल हो या नहीं, किन्तु संवाददाता क्या नहीं होता ?

वह शोधक की तरह पते लगाता है, चिंतक की तरह वस्तु या घटना का तोल सँभालता है, कवि की तरह कल्पना की वायु-तरंगों पर से घटना के कण बीन-बीन कर रखता है, लेखक की तरह चर्चा करता है, सम्पादक की तरह अपने ज़माने की जनता की रुचि सँवारता है, और न जाने किस दिशा में, न जाने कब टूटकर, कभी परिस्थितियों में पड़कर, कभी उनसे झगड़कर, और कभी उनका निर्माण कर, रचना में रत्न-निर्माण करता है, किन्तु स्वयं कन्द-मूल-फल पर सन्तुष्ट होता है।

धर्मशाला में मेरी ज़रूरत होती है, अनाथों के अड्डों पर, विश्व का साहित्य गढ़ा जाता है, रेलवे स्टेशन के तीसरे दर्जे के वेटिंग रूमों में जनता की वाचा फूटती है, वेश्यागारों में शस्त्र और शास्त्र में लिपटा हुआ मानव-साँप अपना स्पष्ट स्वरूप, स्वर और ज़हर प्रकट करता है; वहाँ मेरी ज़रू-रत होती है। मेरे साहस में जगत् की थाह की अँगुली, मेरे भेष बदलने में जगत् का अनुभव, और उनके रहने और भूखे सोने में विश्व के कल आगे बढ़ने का एक क़दम छुपा होता है। दो की काना-फूँसी में यदि मैं दूसरा हूँ

तो समाचार का स्वामी हूँ, और तीसरा हूँ तो समाचार का मोहताज़। किन्तु यदि चौथा हूँ तो फिर एक शताब्दी पीछे हूँ। गङ्गा के घाटों पर नाव से लोग उतरे नहीं कि उन्होंने अपने पथ की कहानी कही, और मै मानो जीने के लिए साँस पा गया। जेल से मुक़द्मे पर अदालत में जाते हुए क़ैदी या हवालाती से मैं मिल लिया कि बस काली, ऊँची दीवारों की कालिमा काँप उठी। जूए के अड्डों पर मैंने गश्त लगाया कि एक के हज़ार देखनेवालों को बुख़ार आया। गरज़ यह कि मैं हूँ संवाददाता। मुझसे मुकुट डरते हैं, सिंहासन हिलते हैं, और शस्त्रोंवाले हाथ, शास्त्रों की शपथ खाकर अपनी सफ़ाई देने दौड़ते हैं।

ध्वनि में मन्दिर का घंटा बढ़ता है, या आपस का टंटा, यह मैं ही जानता हूँ। मसजिद में, मज़हब को किस तरह कतर-ब्योंत कर काम का बनाया जाता है, मुझे पता है। गिरजे में एक बपतिस्मा के नीचे जितना अन्धकार छिपा रहता है, वह मुझसे अपना हुलिया और अपनी सकूनत कहता जाता है।

लहरें चीर : विजया मना

परायेपन के इस वारापार में, क्या अपने अस्तित्व को डूबने से बचाये रहना, और आराध्य—तट तक पहुँचाना है? तो लोहे की दीवारें, सागर के तरल वक्षस्थल पर दौड़ाना, और पानी में आग लगाना सीखिए। क्या अपने दुर्भाग्य को दो टुकड़े कर देना है? तो उठिए, सागरों और महासागरों का आमन्त्रण स्वीकृत कीजिए; दुर्भाग्य समुद्र की लहरों में जा छुपा है; लहरें काटते चलिए, दुर्भाग्य, और बेड़ियाँ, दोनों कटते चलेंगे।

व्याख्यान, लेख, और कविताओं से यह न होगा। मल्लाह चाहिए। वह अज्ञान न हो, लहरें उसे निगल जायँगी; वह अल्हड़ न हो, लहरें उसे खिलवाड़ बना लेंगी; वह कसा हुआ हो, वे उस पर क़ुरबान जायँगी—नीचे रत्नों से भरा समुद्र-गर्भ और ऊपर नक्षत्रों तक का राज्य, वे अपने प्रियतम पर वार देंगी। ख़ूबसूरत युवा, पतवार हाथ में ले। वही तेरी शोभा है।

बेटियाँ कहें, उन्हें मल्लाह सेनानी पति चाहिए। बेटे कहें, उन्हें जहाज़ के कम्पास पर बैठ, दिशा-दर्शन करानेवाली प्राणों की यथार्थ ईश्वरी चाहिए।

यदि देश के सीमोल्लंघन की यह तैयारी न हुई, तो बोये हुए ज्वार ऊगकर किसका मुँह देखेंगे, घट-स्थापना का घट किसके बल रत्नों से भरे जाने की साध करेगा, और यह नन्दादीपक किस कुल-भूषण की आरती उतारेगा?

जंग लगी हुई तलवार से नींबू काट के, और उस पर सिन्दूर लगाने-वाले कायर, अस्तित्व के जहाज़ को कठिनाइयों के सागर की तरंगों पर तैरा

दे, और मल्लाह बनने के लिए आगे बढ़। ब्राह्मण, तू समुद्र पूजन को चल; क्षत्रिय तू लहरों को काटने उठ; वैश्य तू समुद्र पार से लक्ष्मी को लौटा और शूद्र तू अपने ब्रह्मकर्म से, समस्त शरणागतों की रक्षा कर। खोये हुए वे दिन ढूँढ़, जिसे अफ़ीमची चीनी भी ढूँढ़ लाये, अमानुल्लाह ढूँढ़ लाये, और कमालपाशा ढूँढ़ लाया।

गिरिधर गीत है; मीरा मुरली है

कवि के घर निर्धनता से अकाल नहीं पड़ता, वह तो पड़ता है, नीरसता का मौसम आ जाने पर। उस समय उसके विचार और भाव, वाणी के वाहन पर बैठकर विजय-यात्रा करते हिचकने लगते हैं। ज्ञान की परिमितता में भाषा का उपयोग, हृदय-कथन होता है, और ज्ञान का बोझ लदने पर, भाषा से हृदय छुपाने का चकला खुलवाया जाता है। किन्तु कवि के पास, भाषा, ज्ञान में और अज्ञान में, सदैव, हृदय के ईमानदार प्रगटीकरण का साधन होती है। कविता को कुछ लोग, विलास या विनोद मानते हैं। जो लोग अपने प्राण-दान को भी विलास मानते हैं, उन मनस्वियों को तो कविता को भी विलास और विनोद मानने का अधिकार है; किन्तु यथार्थ कविता विलास नहीं, वह तो एक निर्माण है, महान् निर्माण है। हिमालय की तरह स्थायी, गंगा की तरह उपयोगी, सूर्यकिरणों की तरह आवश्यक, और वायु की तरह अनिवार्य। लोग कहते हैं, विज्ञान की बाढ़ में, कविता का विनाश-काल आ रहा है। जो लोग, तुक मिलाने के सूख कर उखड़ते हुए आम की डालियों को कविता कहते और मानते हैं, उनकी कविता तो कितनी ही बार मर चुकी; आज भी वह कविता मरने ही के लिए है। किन्तु जो लोग कविता को समय के पंख मानते हैं, उन्हें कविता के मरण की बात पर विश्वास कैसे हो? जब तक हृदय है, और उसमें सुकोमल मनोभावों का आगमन है; जब तक मनुष्य के हृदय पर, मनोभावों का असर होता रहता है, तब तक कविता अमर है। हाँ, छन्द न रहें। हम छन्दों के मानी ही ग़लत समझें, तो इसमें क़ुसूर किसका? प्राणों की कविता का छन्द शरीर

है; मनोभावों की कविता का छन्द हृदय है; आँखों की कविता का छन्द पुतलियाँ हैं। विधाता ने, अपनी प्रत्येक वस्तु, पदार्थ विशेष में छुपाकर रखी है। छन्द के मानी ही, छुपाकर रखने के हैं। यह सत्य है कि काव्य के संकेतों और कला के उन्मेष में, अनुकरण मरण है। परन्तु, हम एक 'मीरा' और उसके 'गिरिधर' की नक़ल करने के बंधन से नहीं छूट सकते। मीरा है प्रकृति, गिरिधर है प्रभु। गिरिधर भाव है, मीरा उसका छंद है। गिरिधर गीत है, मीरा मुरली है। कवि और कविता का यही तो सम्बन्ध होता है। क्षत्रियों के प्रति विद्रोह करनेवाले परशुराम को अपनी तपस्या याद ही न रही; उन्होंने क्षत्रियों का विरोध क्षत्रियों ही के उपकरण लेकर किया; इसीलिए उनकी तेजस्विता ने हार खाई; और एक क्षत्रिय के हाथों उन्हें अपना राज-दंड सौंपना पड़ा। कवि और प्रभु के बीच तो और भी बड़ी टेढ़ है; हम तो प्रभु के ख़िलाफ़ विद्रोह करते समय लाचार हैं कि प्रभु ही के उपकरणों से काम लें। हाँ, हम यह भले कहते जायँ कि ये उपकरण 'प्रभु' नामक किसी 'जानवर' के नहीं, ये प्रकृति के उपकरण हैं, और प्रभु नाम की कोई वस्तु नहीं। ठीक है, पर नाम बदलने के मानी, क्रिया बदलने के तो होते नहीं। मैं तो कविता की बात ही लिख रहा था। हाँ, तो कविता में हम प्रभु और प्रकृति का अनुकरण करने को बाध्य हैं; क्योंकि उनके खिलवाड़, कवि के शब्दों में, नवीन अर्थों का उदय करते रहते हैं।

'—के साथी से—'

मेरे स्वर में स्वर न मिलाओ गायक; मैं दर्शकों की बैठक में से गुनगुना उठा हूँ!

मुझ पर दर्शक हँस उठे हैं; निकट के मुझसे दूर हो रहे हैं, दूर के मुझ पर अँगुली उठा रहे हैं;—देखो ये अँगुलियाँ तुम पर नहीं उठी हैं—इन्हें तुम अपने पर न उठवाओ।

मैं तो तुम्हारे साथ उठने आया था गायक, तुम मेरे स्वर के साथ किस उतार की ओर चले?

जिस तरह जी की कालिमा और जीभ का राम नाम दोनों, एक दूसरे से दूर रह लेते हैं, गायक उतनी ही दूर मुझसे तुम्हें रहना होगा।

ज़रूरत नहीं कि हम एक दूसरे को देखें, स्मरण की, वर्णन की डोरी से, दो युग जुड़ लेते हैं गायक, मींड़ के खिंचाव में उतार से चढ़ाव जुड़ा हुआ है। ज़रा ठहरो, तुम वह न गुनगुनाओ जो मेरा अपना है, और जो किसी के कंठ पर चढ़कर न लहरा सका।

स्टेशन के कुली नें तुम्हारा सन्दूक तोड़ा, तो तुम चिढ़ उठे थे, मैंने भी तो गुनगुनाकर तुम्हारे गौरव की प्रतिमा भङ्ग की है!

उसे तुमने पैसे देने से इनकार किया था, मुझे भी अपना स्वर देने से इनकार करो गायक!

रिश्ता है?

सूरज ने रिश्ते से अपना प्रकाश नहीं बढ़ाया, वायु ने रिश्ते से अपनी गति न रोकी—रिश्ता? यह किस भाषा का शब्द है गायक?

रिश्ता ?—मानव के अधःपतन में, समर्थक ढूँढ़ने का प्रयत्न तो नहीं है यह ?

रिश्ता—अपनों को संकट में डालने का मार्ग बन गया !

अब सेवा होगी या महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति ? विश्व का हित होगा या अपनी प्यास बुझाने का प्रयत्न ?

रिश्ता, गायक, समर्पण की जातियाँ न बनाओ, उतार को रूप-दान न दो, पुरुषार्थ को हाट में न रखो।

'दूरी की निकटता'

'तू' और 'मैं' क्यों न ?

"—नहीं 'हम' कहो।"

क्यों ?

"—साथ घूमते हैं, साथ श्रम करते हैं, साथ लोहा लेते हैं, साथ-साथ सिर देते हैं !"

तब भी क्या हम साथ हैं ? द्वार से द्वार भले मिला हो, जी से जी मिला है क्या ?

"—यह जी क्या है ?"

अमरत्व; जिसमें मरण नहीं होता ? प्राण, जो काटे कटे न मिटाये मिटे, न घटाये घटे,—

"—और उसका माप ?"

निकट आने पर बे-पहचान की-सी दूरी रखकर और दूर रखकर, और दूर रहकर, प्रणय के आलिङ्गन और आँसू समर्पित करके ही, सिर उठाने और सिर देनेवाले सिरधारी जान पाये हैं कि जी क्या है, प्राण कहाँ हैं ?

"—दूरी में क्या है ?"

देवत्व; मैं तुम पर आँसुओं के फूल चढ़ाऊँ ? तुम्हारी याद पर बलि-बलि जाऊँ, तुम्हें पाने के लिए व्याकुल रहूँ ?

"—क्या यह कृत्रिमता नहीं है ?"

कैसी कृत्रिमता ? दूर हूँ, तब तुम्हारे गुण सुनते-सुनते नहीं थकता; दूर हूँ तब तुम्हारे गर्व-गान गाते नहीं अघाता; दूर हूँ तब तुम्हारी यादें मेरी

साँसें बन जाती हैं; दूर हूँ तब तुम्हारे ध्यान पर लटकते चरणों पर मत्था रखते जी में उमेठन नहीं पड़ती; दूर हूँ तब मेरे बाग़ के झाड़ों की क्यारी के कीच को भी चन्दन बनाकर जहाँ खड़ा हूँ वहीं तुम्हारे मस्तक पर चन्दन-सा चढ़ाने लगता हूँ और आँखों का अर्घ्यदान करता हूँ किन्तु तुम अपमानित नहीं होते; दूर हूँ तब, मेरी, किसी भी रस की कोई भी गुनगुनाहट, तुम्हारी प्रार्थना का सामगान बन जाती है; दूर हूँ तब क्रिया तुम्हारी सेवा और मेरी सेवा तुम्हारा मनोरंजन है; दूर हूँ तब तुम्हारी हर कड़वी आलोचना, तुम्हें दी गई हर गाली, तुम्हारा किया हुआ हर चुम्बन, तुम पर किया हुआ हर आरोप, और तुम्हें अपने से छोटा मानकर, तुम्हें अपने अन्तर में जगह देने का हर आयोजन—अपनी बाँसुरी पर तुम्हें नृत्य के लिए विवश करना, अपनी रीझ में तुम्हें पुकार उठना, अपनी खीझ में तुम्हें दुतकार उठना, और फिर अपने को कभी तुमसे बड़ा, कभी छोटा, पाना—यह मेरा सख्य है जो मैं अनुभव कर पाता हूँ; और दूर हूँ तब 'मैं' को 'तू' मानकर कौन-कौन लाड़ नहीं लड़ाता, कौन-कौन शिकायतें नहीं करता? कौन-कौन आरोप नहीं करता, कौन-कौन से अपने अपराध गिन-गिनकर तुम्हारे सामने नहीं रख देता—क्योंकि उस समय तू हो जाता है मैं; और मैं हो जाता हूँ अति नम्र आत्म-निवेदन।

जीवन का प्रश्न-चिह्न—स्त्री

(१)

मर और अमर, चर और अचर और स्वर तथा वस्तु, सब में ऐसा कौन-सा बोझ है जो ये, पृथ्वी पर रहकर ऊपर को उठना नही जानते। किन्तु सुदूर से सुदूर ऊपर से असहाय, बेक़ाबू, अनिवार्य, अथक, नीचे की ओर चले आते हैं। क्या इसे आकर्षण कहते हैं ? सुख का जनक, पहुँच की मिठास, जन्म का संकेत, मरण की प्राप्ति और अमरता का चिर सन्देश ?

क्यों नही तुममें उलझन मालूम होती, आकर्षण ? मिट्टी में मिला हुआ पन, मिट्टी में मिला हुआ प्राण, यह लो, आकाश को चला ! कीच और पत्थर में से सर उठाता हुआ !! परन्तु समय तो दयालु न्यायाधीश नहीं है। उसने नन्हीं-सी उगती हरियाली पर वे लो, काँटे उगा दिये।

हाँ, तुम बिगड़ कर चले आकर्षण से !! और सूरज स्वरूप देने, चाँद स्वभाव देने, हवा प्राण देने और कीच की भूमि मीठा सा स्वाद देने में जुट गये। तुम्हारे काँटे अधिक हैं या समय के दिन अधिक; शायद, काँटे सूरज की मिहनत को, काल के जगदीश्वर को परास्त किये हुए है। ठीक है, तुम्हारी उम्र के दिनों से काँटों का इस तरह बढ़ जाना उस कलाकार की तरह है जिसके उम्र के वर्षों से उसकी कला कृतियाँ अनन्त गुना होकर विश्व के सम्मुख आ जाया करती हैं।

कोमल हरीतिमा में और नन्हीं उठान में ही ये काँटे जनने थे, उत्थान ? और यह सब निर्माण किसके लिये ? फिर एक डाली, फिर नये

काँटे। कितनी हरियाली झाड़ी लगी है। लोगों ने कहा; ये काँटोंवाले झाड़ हैं।

किन्तु इन काँटों में से यह क्या होने लगा? गुलाब! यह लाल-लाल क्या है? यह गुदगुदी-सी कैसी है? यह पंखुड़ियों की हरियाली मुट्ठी में क्या बँधा है, खोलो तो?

ओहो, तुम हो आकर्षण! तुम्हारा तो स्वभाव नीचे की ओर जाना था न? और यह लो, दस पाँच से भी काँटोंवाली कहानी उनके ज़बानी न पूछ पाया कि हरे ओंठों में से निकलने वाली शेष-नाग की हज़ार-हज़ार जीभों की तरह खिलनेवाली कलियों की पंखड़ियाँ, वे ज़मीन पर जा गिरीं।

मैंने घूमकर देखा; इतनी कठोर यात्रा। कीचड़ को चूसती और काँटों में ज़िन्दगी बिताती, अपने परिणाम पर पहुँचने में इतनी बेक़ाबू। ओहो, तुम हो आकर्षण!

किसने उस दिन कहा था, आकर्षण न हो तो कोई क्यों जीवे। फिर न जाने किसने उस पर भाषा-टीका की थी कि आकर्षण के बिना सुख कहाँ। क्या जिनके आकर्षण है वे सुखी हैं? क्या जो सुखी दीखते हैं उन सब में आकर्षण है? तब तो वह जीवन का शाप है जो मिलकर रहा होगा।

और क्या, सुख सब के पास है, तब वह दुःख से भी बदतर होगा। किन्तु, अभी तो उस काँटेवाले वृक्ष ने कहा था कि वह हरीतिमा लेकर सुख से उठा था और आकर्षण पाकर पंखुड़ी-पंखुड़ी धूल में मिल गया।

किससे पूछें कि क्या ऐसा कोई सुख ही नहीं है जिसमें किसी आकर्षण की ज़रूरत ही न हो। और क्या ऐसा कोई आकर्षण ही नहीं है जिसमें सुख

की इच्छा न हो। ताँबे के एक पैसे का आकर्षण सँपेरे को साँप के साथ खेलने का खिलवाड़ प्रदान क्यों करता है? डुबकी लेकर लौटने के बाद ली जाने वाली साँसों समेत अपना पेट भरने के लिये मोती लाने वाले पनडुब्बे के मन में ताँबे का पैसा यह आकर्षण क्यों उत्पन्न करता है कि वह अपनी, हाथ की, एक साँस को भी जिसके साथ अनन्त साँसे अभी तक जुड़ी हुई हैं, बाज़ी पर चढ़ाने और पानी में मिलाने के लिये गोते पर गोते खाय? अत्यन्त ग़रीब, रूप से विकृत, वैभव से रहित, कष्टों से लाचार और कुष्ठ का रोगी रेलवे प्लेटफ़ार्म से जूठी पूड़ियों के टुकड़े और तरकारी से लिपटे हुए पत्ते समेट कर एक अधेड़, पागल किन्तु ज्वर से बीमार स्त्री के पास उसके मुँह में जूठी तरकारी पत्तों में से नोच-नोचकर क्यों डाल रहा है? और द्विरागमन के प्रथम-मिलन, अथवा मृत्यु की अन्तिम-भेंट की, सावधानी और उत्सुकता के साथ इन दोनों ही प्राणी कहलाने वाले बदनसीबों की आँखों में यह आँसू क्यों आगये हैं? क्या तुम हो आकर्षण! क्या तुम हो सुख!! क्या दोनों एक साथ हो! या एक आ चुका है और दूसरा आता जा रहा है! आकर्षण, यदि तुम ही हो तो नारद की वीणा से कोढ़ी की जूठी पूड़ियों तक ठहरने के लिये तुम्हें किसी ने रोका नहीं?

क्या तुम प्रभु से अधिक बलवान हो आकर्षण, जो वह तुम्हें नहीं रोक सकता; न ऊँचे पर चढ़ते हुए न नीचे पर जाते हुए? फिर यह मज़हब क्या कह रहा था उस दिन? क्या इस कोढ़ी और इस पगली की तसवीर भी किसी मज़हबी किताब में लिखी है आकर्षण? यह मैं कैसे जानूँ कि वीणा लेकर नारद ढालू ज़मीन पर, या पगली का बे-पहचान प्रीतम कोढ़ी ऊँचे पर, खड़ा है?

तुम्हें प्रेम कहते क्रोध आता है आकर्षण ! शर्म मालूम होती है। लाज लगती है। विवेक से शायद ही तुम्हारा कोई रिश्ता हो सकता है। वेश्या से लगाकर परम-भक्त तक सब जिस प्रेम शब्द पर अपना अधिकार रखना चाहें, रक्खे हुए हों, उस शब्द के भी क्या कोई अर्थ रह जाते हैं ? तो क्या, एक खिँचाव से जीवन की परिसमाप्ति तक जो डोर हिल रही है और जिस पर पंछियों की तरह फिर उड़ता और फिर बैठता सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का जड़-चेतन ठहरा हुआ है, उस प्रचण्ड सत्ता—प्रेम—के अस्तित्व के मानी मानने से कोई इनकार कर सकता है ?

जीवन की दोपहरी बोली, प्रेम ने मुझे क्या नहीं दिया ? और उस दोपहरी में आनेवाले बेक़ाबू स्वेद-बिन्दुओं ने कहा, इस कमबख़्त प्रेम ने हमसे क्या-क्या नहीं ले लिया।

बँधी-बँधी-सी दीखनेवाली उसाँसों की मन पर अनन्त बोझीली अगणित गाँठों में तुम्हारा रहस्य देखूँ प्रेम ?—या, गाम्भीर्य का दिवाला काढ़ते हुए, बाज़ारू कुत्ते की तरह टूट-टूट पड़ते आँसुओं में, तुम्हारा छोटापन देखूँ ?

जीवन की चाहों का बँधना-बोरिया समेटकर मैं चला किस तरफ़ था ? साँसों की यह सड़क किस तीर्थ की ओर जा रही है और कहाँ जाकर ठहरना होगा ? क्या मरण के महान् क्षेत्र पर ? क्या यह लाचारी है कि मुझे मृत्यु के मन्दिर तक जाना ही होगा ?

फिर वह तीर्थ नहीं है। तीर्थ में मर्ज़ी के बिना लोग नहीं जाया करते। तुम मुझे कारागार में ले जा रहे हो। उस जगह जहाँ पर मेरी मर्ज़ी ना-मर्ज़ी नहीं चल सकती।

जन्म की पहली साँस के साथ मैं तो रोया था बदनसीब ! जीवन की मैंने उचित भाषा-टीका की थी। किन्तु, चाण्डाल ! तुम आ गये। माँ के दूध में से गुज़र कर मेरे मुँह में। मेरे रुदन को तुमने संघर्ष कहा; मेरी साँसों को तुमने हर्ष कहा। और मैं भूल ही गया कि मैं पहिले दिन रोया था।

और तुम बड़े ही बने; मुझे दूध पिलाते, मुझे लड़ाते, मुझे अँगुलियों चलाते, मेरी पशु जैसी किलकारियों में से मानव जैसे बोल फोड़ते; मेरे जीवन के विकास के लिये तापमान का निर्माण करते और दुग्ध की स्निग्ध धारा से मेरी अनन्त साँसों को गढ़ते। तुमने ही तो यह सब अनर्थ किया है। मैं नहीं जानता था कि तुम कौन हो। आज भी नहीं जानता।

तुमने कहा 'माँ' बोलो बेटा; और मैंने माँ कहा। और यह तुम हो प्रेम ! तो यह तुम्हारा कौन-सा दुलार है कि ली जाने वाली साँस में, किये जानेवाले काम में और इस तरह सम्पूर्ण जीवन में यह संघर्षण हो। क्या तुम स्वयं संघर्ष हो ?

कल्पना, कलह, केलि और कृति ये मेरी जागीरें नहीं हैं। यदि यह सब कुछ तुम्हारा है तो संघर्षण का वरदान मुझे क्यों ? और यह संघर्षण किस दिन चुकेगा ? क्या ली जानेवाली अन्तिम साँस के दिन ? तब अभागे जादूगर प्रेम, यह साँस और कुछ नहीं केवल तुम हो।

यात्रा तुम्हें पूरी करनी है और बोझ मुझे ढोने हैं। मैं तो राहुल सांकृत्यायन की तिब्बत यात्रा में मिलनेवाला कुली हूँ जिसे सारा बोझ उठाकर मृत्यु के 'ल्हासा' तक पहुँचा देना है।

यह कौन मानेगा कि साँस मेरी नहीं है। मानव बेचारा ! न जाने किस-किस को अपना कहने को बाध्य है। और सारी किलोलों और

किलकारियों में जब बचपन के दूध की याद आती है तब रुदन याद आता है। संकट आया, कि रुदन आया।

अनहोना चढाव है कि रुदन, कठोर उतार है कि रुदन, असीम घुमाव है कि रुदन। एक मूल-मन्त्र है कि जीवन की पहली साँस के साथ मिला। आँसुओं ने तो इसे हरा-भरा ही रखा। जन्म मे तो यह पहला है; जन्म-तिथि मे तो यह बड़ा भाई है।

(२)

आँख-मिचौनी का खेल बुरा नहीं होता; वह बुरा हो जाता है, जब बरसों से तरस-तरसकर ढूँढ़ा जानेवाला व्यक्ति आँख-मिचौनी खेलने वालों में शामिल हो जाय। और मरण के क्षणों में भी उसका खेल समाप्त न हो।

तुम ऐसे ही रहस्यवादी हो प्रेम! आख़िर तुम हो क्या? सिर में जो मीठी-मीठी-सी तसवीर बनती है, क्या वह तुम हो? फिर जो छू जाना-सा घटना बनकर कहीं घट जाता है वहाँ तुम क्यों हाज़िर मिलते हो?

क्या तुम वह क्षण हो जिसे सर्वनाश के क्षण गङ्गाजल का अभिषेक करके कहा जाता है? अथवा तुम वह हो जो निर्माण में अपने जैसा अथवा अपने से मीठा बनकर अपनी ही गोद में फिर से खेलने के लिए ललच पड़ता है?

क्या तुम महान् मानवत्व के अथवा विश्व के महान् निर्माण के लाचार, एक से दो होने की ज़रूरी शर्त हो? निर्माण से पहले भी और निर्माण के बाद भी? फिर दो की यह लाचारी बेचारे चलते-फिरते, गतिशील अस्तित्व ही के पीछे क्यों पड़ी है? बेलि में लटकनेवाले फल को और

वृक्ष की डाल पर आनेवाले फल को दूसरी बेल और दूसरे झाड़ की सहायता की ज़रूरत क्यों नहीं होती ?

जिन कानों को अखिल जगत् में कहीं से भी बोला हुआ सुनाई पड़ जाय उन्हें सिर के आस-पास दूरी पर रखने की मूर्खता किसने की है ? वे तो नज़दीक-नज़दीक रहते तब भी वही बात होती। और जिन आँखों को सामने से बग़ल में हो जानेवाला पदार्थ तक न दीखे और आगे चलने पर पीछे का पदार्थ तक न मालूम हो, उन्हें सटाकर कपाल में रखने की नादानी किसकी है ? यह सम्पूर्ण दिशाओं को अन्धकार में रखकर एक ही कमरे में दो-दो लालटेन लटकाने की चतुराई का धन्यवाद किसे दिया जाय ? क्या वही इस बात के लिए ज़िम्मेवार है कि वृक्षों में और बेलों में राजा भी ख़ुद हो; रानी भी ख़ुद। अपना प्रियतम भी वे ही और प्रियतमा भी वे ही। कौन कहता है, अद्वैत के चरणों में निर्माण का रस नहीं रहता ? तब क्या, इस रस की आवश्यक शर्त है कि अद्वैत गतिहीन हो, प्रगतिहीन हो, जड़ हो ? माना, निर्माण की घड़ियाँ तन्मयता में अत्यन्त जागरणशील जग से इसी जड़ता की माँग करती हैं; किन्तु मेरा बे-सुलझा हुआ सवाल किससे जाकर कहूँ कि निर्माण की या प्रेम की शर्त जुदाई, द्वैत, क्यों है।

फिर तुम्हारे चढ़ाव-उतार भी तो विचित्र हैं प्रेम ! एक राजा था, अत्यन्त अत्याचारी। मानव ही खाता था और मानव-चर्म ही पहिनता था मान लो। जो भूकम्प से न डरते थे वह उससे डरते थे। जो बाढ़ों से नहीं बहते थे—उन्हें चीर कर पार करते थे; वे अत्याचारी राजा की फूँक से उड़ते थे। और सम्पूर्ण अत्याचारों का करनेवाला वह, जब अपने अत्याचारों की

काली-काली भयावनी पृष्ठभूमि पर किसी सुकोमलता के कन्धे पर हाथ रख-कर मुस्करा उठता है और जीवन की माँग कर उठता है तो धन्य होकर, बावला जीवन अपने समस्त मीठेपन को लेकर उसपर समर्पित होने क्यों दौड़ता है ? यदि दौड़ता है तो वह यह क्यों कहता है कि जो किसी पर प्रेम न कर सका वह मुझपर प्रेम करता है। क्या यह सम्मेलन भी प्रेम ही कहा जायगा, प्रेम ? क्या प्रेम की विरासत पाने के लिए आतंक की पृष्ठभूमि निर्माण करना प्रेम की परिभाषा कहा जायगा ?

ना, यह बात नहीं है कि इन पंक्तियों के लेखक ने अनावश्यक आतंक की भयानक भूमिका ले ली। अच्छी भूमिका लीजिए। एक सदात्मा है, गुणी है, विद्या का भंडार है, कला का आगार है। बस, जीवन की ख़रीद-फ़रोख़्त को इतनी शर्त काफ़ी हो गई ? फिर प्यास तो हरएक को लगती है न ? करोड़ों की आधी दुनिया की प्यास के लिए करोड़ों की ऐसी आधी दुनियाँ कहाँ से लाई जायगी ? यदि नहीं तो सोलह हज़ार गोपियों के कन्हैया क्या इतिहास के परे के युग को छोड़कर पुनः जगत् में अनेक अवतार धारण करेंगे ? और यह तो बताओ कि जिस गुणज्ञ को गुणज्ञ समझकर प्यासी आँखों ने अपने आपको समर्पित किया, यदि उससे अधिक गुणज्ञ, मिल गया तो ? और मिलता ही चला गया तो ? क्या रोज़ाना एक के प्रति ईमानदार होकर दूसरे को ढूँढ़ते रहना ही प्रेम की परिभाषा होगी ? समाज-संगठन बिगड़ने का तर्कशून्य कारण देकर मैं अपने पक्ष का उत्तर नहीं चाहता। क्या प्रेम, जीवन की अस्थिरता का नाम होगा ? क्या प्रेम के बाज़ार लगेंगे और चकले खुलेंगे ? फिर भक्तवर नारद से लगाकर वेश्या तक सब प्रेम के हक़दार हों तो इसमें आश्चर्य क्या ?

और तब क्यों प्रेम 'शब्द' का कोई अर्थ चाहिए ? तब क्या प्रेम नाम की कोई वस्तु नहीं है, इस रुपये-आने-पाई की दुनिया में ?

रुपया, आना, पाई—यह किस चीज़ का नाम है ? कठोर आदर्शवाद और रुपया-आना-पाई, क्या ये दोनों ही जीवन की तराज़ू के दो पल्ले हैं ? फिर जो कुत्ता रोटियों के टुकड़े खाकर मेरी ओर से सड़क के राहगीरों को मेरे घर के पास से नहीं गुज़रने देता वह आदर्श प्रेमी है ? वे मेरी गाड़ी ले जाया करते हैं; मैं उनके कोट पहिन लिया करता हूँ। वे मेरे द्वारा ख़र्च किये गये अपने रुपयों का हिसाब नहीं रखते और मैं उनके द्वारा नष्ट की हुई अपनी वस्तुओं का लेखा-जोखा नहीं रखता हूँ। क्या लेन-देन में यह सावधान या असावधान लापरवाही प्रेम की अनिवार्यता है ? तब मेरी आकांक्षाओं की वृद्धि पर एक सुवर्ण-ढेरी की जगह चार सुवर्ण-ढेरियाँ लुटानेवाला मिल जाय तो ? क्या यौवन के गहने के बाज़ार में अधिक से अधिक दाम लगना ही प्रेम कहा जायगा !

किन्तु, एक सबसे बड़ा मरण-स्थल है। सौन्दर्य मानव की कमज़ोरी है। रुचि पर उतरते हुए मानव की आँखों के दलाल 'जी' तक पहुँचाने के लिए सौन्दर्य का नये से नया माल ढूँढ़ते फिरते हैं। सौन्दर्य ?—बिलकुल विदेशी वस्तु है। मेरा अपना जिसमें कुछ नहीं है।

एक नन्हा-सा बच्चा, नन्हें-नन्हें घुँघराले बाल लटकाता, कभी किलकता, कभी फुदकता, और कभी रोता हुआ सड़क पर आगया; मैं दौड़ा और बच्चे को चूमने, दुलराने, लड़ाने लगा। क्या यह मेरी उदारता है ? यह महानता है ? यह विश्व-बन्धुत्व है ? यह प्रेम है ? मानव की बुरी से बुरी भावना को अच्छे से अच्छा नाम देने के लिए मानव निर्मित कोष में शब्दों का टोटा क्यों पड़ने लगा ?

किन्तु क्या मेरी आँखों और आँखों में से गुज़र कर भिनकनेवाले मन की यह सौन्दर्य-लोलुपता न थी ? नहीं तो मेरे चुम्बन और हाव-भाव के बीचोंबीच मेरी बाईं ओर ताँगे के चक्के से टकरा कर गिरा हुआ काला, मैले कपड़ोंवाला किन्तु तरसती, करुणामयी, असहाय आँखोंवाला बच्चा मुझ प्रेम के सम्राट् के कृपा-कणों का पहला अधिकारी क्यों न हुआ ? मेरे पीपल के पेड़ के आँखे होतीं तो वह देखता कि मेरा हर चुम्बन और दुलार सच्चे प्रेम के ख़िलाफ़ मेरा विश्वासघात था।

एक ओर या दोनों ओर उकसनेवाले मीठेपन की बाज़ी लगाकर क़दम-ब-क़दम बढ़ना और अपने अभिमत की नज़र पर सदैव सुन्दर बनकर झूमते रहना और इस सुन्दरता की होड़ा-होड़ी का खेल सतत जारी रहना, क्या यही सौन्दर्य है ?

ज्ञान ने जीवन को छुपाने की जो विश्वासघात-पूर्ण कला सिखाई है—जिनके पास यह नहीं है वे इस हाट में क्या करें ?

और मानिये एक राजा था और उसके थी एक रानी। राजा कुछ साँवला था, रानी गौर वर्ण। एक दिन की बात कि चेचक से रानी का सौन्दर्य विकृत हो गया। यह क्या, रूप की ओट में राजा को जिस रानी में लाख-लाख गुण दीखते थे; रूप का पर्दा छिद्रोंवाला होते ही रानी के सब गुण छनकर बह गये, और फिर एक नये रूप की तलाश ! फिर, चमड़े के सफ़ेद, पीले, काले ये भेद भी होने लगे और ये सब प्रेम के नाम पर।

माँ थी तब बच्चे के रुदन से बच्चे की भूख माँ को लग उठा करती थी। जब रमणी हुई तब रूप की राक्षसी नित नये ख़ूबसूरत खाने लगी।

तब वह, जो अपने अभिमत के कष्टों में व्याकुल होने का नाटक है वह केवल इसीलिए न कि विलास के सुखद क्षणों में बाधा पड़ रही है। यदि विलास का रक्त-कर वसूल न हो सके तो प्रेम का अस्तित्व ही शायद नहीं चाहिए!

बोलो प्रेम! क्या तुम रूप पर अवलम्बित हो? फिर विधाता की क़लम ने जिन अभागों के मुँह नहीं पोते उनके मुँह का दण्ड क्या उनके हृदय को दिया जायगा? क्या उन हृदयों को जो कह उठते हैं हम ज़िन्दगी भर कष्ट बर्दाश्त कर लेंगे; तुम सुखी रहो। क्या उन हृदयों को जिन्होंने अपने सर्वनाश का पता न दिया और हृदय के पानी से अत्याचारी आश्रय-स्थल को हरा-हरा करके रखा। तब तो ईश्वरत्व की कल्पना में आग लगने का तमाशा रूप की हाट से सुन्दर और कहीं नहीं देखा जा सकता। उसी रूप की हाट में जिसने जाकर लौटना नहीं जाना। और उसी हृदय के ख़िलाफ़ विद्रोह करके जिसने तबीअत पर आकर लौटना नहीं जाना।

कहो प्रेम, तुम रूप हो? तब रूप में सुख अनुभव करें कि तुम में? तुम तो सुख के साथी थे न; रूप की रहन रखी हुई जायदाद कब से हुए?

प्रेम!

कितना छोटा-सा शब्द, कितना बड़ा रहस्य और अर्थ लिये हुए!

कितना छोटा-सा शब्द, जो मानव के यहाँ पैदा होनेवालों को, न जाने कितना देता है,—और न जाने कितना उनमें से ले लेता है।

(३)

एक चिन्तक का सपना उधार लूँ तो—जीवन-रथ पर चढ़े तीर्थयात्री हम, संघर्ष में घड़ियाँ बिताते हैं, दिनों से दिन, महीनों से महीने, बरसों से बरस लड़ा देते हैं; और इसके बाद हमारा तीर्थ आ जाता है—मरण।

एक अनहोना संघर्ष, माँ के गर्भ से टपकने के पहले दिन के रो पड़ने से प्रारंभ होता है और राम कहलाने के लिए परेशान करनेवालों की बेचैनी के बीच, ली जानेवाली अन्तिम साँस के साथ ख़तम होता है।

अघटन-घटना में, जिसकी साँसें शेष रह गईं, जो विद्रोह में, दुर्घटना में, रोग में, कष्टों में,—यमराज-प्रूफ होकर निकल आया, उसका हर्ष, संघर्ष से पुनः प्रारम्भ होता है।

ऐसे कठोर संघर्ष में भी, तुम जी ले जाते हो—तुम!—प्रेम!!

प्यार, क्या सुख से भी तुम्हारा कोई रिश्ता है? कम लोग जानते हैं। क्या सुख से तुम्हारा रिश्ता नहीं है?—कम लोग इस पर विश्वास करते हैं!

ओ प्रेम! सुख भी तो तुम्हारी ही तरह रहस्यों से भरा है!

चोर जेल में जाकर रोता है, देशभक्त जेल में जाकर गर्वित होता है—एक कार्य में, एक कष्ट में, एक असुविधा में, एक ख़तरे में, दो भूमिकायें—एक सुख-नाश की, दूसरी सुख-निर्माण की।

सम्पूर्ण समझदारी के दावेदारों से पूछो, क्या उन्हें प्रेम का भी दावा है? और सम्पूर्ण-ज्ञान की उलझन भरी सुलझनों के गर्वितों से पूछो—क्या कभी उन्होंने सुख पाया है?

और क्या समस्त संसार के समस्त गुणों और विशेषताओं की रूह ने, उनके अन्तरात्मा और बहिर्बल ने, यह कभी जान पाया है कि प्रेम और सुख, कब साथ आते हैं, कब अलग-अलग? कब आते हैं, कब चले जाते हैं? और किसके आने पर कौन जाता है? किसके जाने पर कौन आता है? किसके आने पर कौन आता है?

शर्म, बेशर्मी, और संकटों में भी, जीवन की तरह, दुलराये जाने का लालच

उत्पन्न करने में सफल तुम, प्रेम; टुकड़े-टुकड़े होते और रक्त-दान में लहूलुहान भाग्य पर उसी के रक्त से 'आनन्द' लिखने में परम निष्ठुर तुम, प्रेम; कौन कहता है कि जगत् ने तुम्हें मधुर कहकर, माधुर्य के साथ विश्वासघात नहीं किया ? और कौन कह सकता है कि उसने विश्वासघात किया ही—अनिर्वचनीय तुम !

प्रेम और सुख ! यदि तुम दुश्मन हो तो सगे, यदि तुम युग्म हो तो बड़े कलह-प्रिय, यदि तुम मित्र हो तो बड़े षड्यन्त्रकारी, यदि तुम कमज़ोरी हो तो बड़ी भयङ्कर, यदि तुम बल हो तो बड़े निर्दय, और यदि तुम अस्तित्व हो तो बड़े आकर्षक, मधुर, मोहक !

तुम में बिना प्रवेश किये, तुम में से बिना आरपार गुज़रे, तुम्हारा बिना शोध किये ही, तुम्हारा महान् मूल्य मानने के लिए मानव कितना लाचार ? कितना उतावला ? कितना अन्धा ? 'प्यार' को वह 'प्राण' कहने लगता है। ठीक भी है, 'सिर' देने की बात भी लोग सिर ही में तो सोचते हैं !! और मूल्य भी कितना भारी , अभी उस दिन सम्राट् एडवर्ड ने गद्दी हाज़िर कर दी।

तुम्हारा हाज़मा कितना भारी—गद्दी, मुकुट, सोना, चाँदी, रक्त, राज्य, इज्ज़त, आबरू, प्राण—क्या-क्या नहीं खा गये तुम ?

किन्तु 'सुख' के बिना भी क्या कोई जीना चाहे ! प्रेम के बिना भी क्या कोई जीना चाहे ?—और इन दोनों का प्रतीक, इन दोनों का संयोग, इन दोनों की सुवर्ण ग्रन्थि कौन ?—स्त्री !

स्त्री ! तुमने हमें जन्म दिया, प्राण दिया; तुमने हमें सुख दिया—और दिया अपना प्रेम। तुम्हारे स्नेह से स्वर्ग का वह द्वार खुल गया, जिसे हम रुकावट की दीवार समझे थे, तुम्हारे स्नेह से अन्धों को दीखने लगा—आँखें खुल गईं और आँखवाले अन्धे हो गये।

तुम्हारे स्नेह ने हमारी समझ को माँजा, उसे चमकीला बनाया, हमारे मनोभावों को सुकोमल और बारीक से बारीक किया, और प्रेम-पथ के ईमानदार पुजारियों की सुख के वैभव से गोदें भर दीं।

किन्तु स्त्री!—तुम जो यह महान् शक्ति अपने में रखे हुए हो; क्या तुम भी अपने जीवन-पथ में, आँखें मूँद कर ही चली जा रही हो?

तुम जानो देवि, यह पहले, सबसे पहले जानो, कि क्यों प्रेम की अवतारणा प्रभु ने तुममें की है? किस मतलब, किस उद्देश्य से! क्यों तुम्हें यह वरदान प्राप्त है!

तुम जो अवसर से उत्पन्न, और परिस्थितियों से बे-क़ाबू हमारे केवल कुछ बरसों की गाँठ में बँधे जीवन को, स्वर्ग बनाने की क्षमता रखती हो, क्या जानती हो कि प्रेमदान से जो तुम मानव के लिए स्वर्ग का निर्माण करती हो, उसे तुम्हें किस-किस नारकीय कठिनाइयों में से गुज़र कर निर्माण करना होता है? और ज़मीन पर उत्पन्न होकर, आसमान का, स्वर्ग का कौन-सा सुख तुम्हारे कलेजे में घुसता रहता है!

पुत्रि! ओ स्त्री के अभिनव संस्करण! ओ प्रेम के मधुरतर और कटुतम स्वाद, तुम अनुभव करो और जानो, कि तुम्हारी हस्त-रेखाओं पर आकर्षणशीला भूमि का स्वभाव, उसकी शक्ति, उसका स्नेह, उसका हरियाना, और सहनशक्ति और सबसे अधिक उसका प्रजनन ठहरा हुआ है। यह जानो, क्योंकि इसे जानकर ही, तुम जान पाओगी कि तुम्हारे स्वयं के अस्तित्व का वरदान क्या है?—वह है कल का जगत्, फिर नया कल, फिर नया कल,—और समय का बिना छोरवाला अमर होना।